सहजानंद शास्त्रमाला

# पंचगुरुभक्ति प्रवचन

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी ''सहजानन्द'' महाराज

प्रकाशक

**श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर,इन्दौर**

Online Version : 001

# प्रकाशकीय

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरूतर कार्य किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक **'पंचगुरुभक्ति प्रवचन'** अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यवहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है। इसमें सम्पूर्ण पंचगुरुभक्ति पर प्रवचन संकलित हैं।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को http://www.sahjanandvarnishastra.org/ वेबसाइड पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थ को पुन: प्रकाशित कराना चाहता है, तो वह यह कंप्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे । इसी ग्रन्थ की PDF फाइल http://is.gd/varniji पर प्राप्त की जा सकती है।

इस कार्य को सम्पादित करने में **श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर** इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। ग्रन्थ के टंकण कार्य में **श्रीमती मनोरमाजी, गांधीनगर** एवं प्रूफिंग करने हेतु **श्री सुरेशजी पांड्या, इन्दौर** का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

**विनीत**

विकास छाबड़ा

53, मल्हारगंज मेनरोड़

इन्दौर (म०प्र०)

Phone-0731-2410880, 9753414796

Email-vikasnd@gmail.com

www.jainkosh.org

शान्तमूर्तिन्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी''सहजानन्द'' महाराज द्वारा रचित

## आत्मकीर्तन

हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता दृष्टा आतमराम।।टेक।।
मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान।।
मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान।।
सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रूष दुःख की खान।
निज को निज पर को पर जान, फिर दुःख का नहीं लेश निदान।।
जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम।।
होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम।।
अहिंसा परमोधर्म

## आत्म रमण

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूँ।।टेक।।
हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण।
हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं दर्शन० ,मैं सहजानंद०।।१।।
हूँ खुद का ही कर्ता भोक्ता, पर में मेरा कुछ काम नहीं।
पर का न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं दर्शन० ,मैं सहजा०।।२।।
आऊं उतरूं रम लूं निज में, निज की निज में दुविधा ही क्या।
निज अनुभव रस से सहज तृप्त, मैं दर्शन० ,मैं सहजा०।।३।।

## Contents

प्रकाशकीय....2

आत्मकीर्तन....3

आत्म रमण....3

पंचगुरुभक्ति प्रवचन....5

श्लोक 1....5

श्लोक 2....25

श्लोक 3....39

श्लोक 4....60

श्लोक 5....65

श्लोक 6....68

श्लोक 7....69

श्लोक 8....71

श्लोक 9....73

श्लोक 10....73

श्लोक 11....74

# पंचगुरुभक्ति प्रवचन

**प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक मनोहर जी वर्णी ''सहजानन्द'' महाराज**

## श्लोक 1

**श्रीमदमरेन्द्रमुकुटप्रघटितमणिकिरणवारिधाराभि: ।**
**प्रक्षालितपदयुगलान्प्रणमामि जिनेश्वरान्भक्त्या ।।१।।**

**ज्ञानानंदाभिलाषी भक्त द्वारा ज्ञानानंदमूर्ति को नमस्कार**—आत्मा के सहजस्वरूप का परिचय पा लेने वाले ज्ञानियों की दृष्टि उस ही आदर्श पर पहुंचती है जिसके इस सहज ज्ञान स्वरूप का पूर्ण विकास हुआ है और इसी कारण सहज ज्ञान स्वभाव का भक्त यहाँ कह रहा है कि मैं जिनेश्वरों का वंदन करता हूँ । जिनका सहज ज्ञानस्वरूप केवल बन गया, शुद्ध हो गया उन्हें जिनेश्वर कहते हैं । जो रागद्वेष मोह को जीते सो जिन, ऐसे श्रेष्ठ जिनको जिनेश्वर कहते हैं । जो जिसका अर्थी होता है वह ढूंढ-ढाँढकर सब तरह से पता लगाकर उस ही के पास पहुंचता है । लोक में भी यही बात है जो धन का अर्थी होता है वह सब कुछ समझकर धन का जो स्रोत हो, धनी हो, राजा हो, उस पुरुष के पास पहुंच जाता है । जिसको ज्ञान की ही इच्छा है, जो केवल ज्ञान में ही रुचि रखता है वह पुरुष सब तरह से पता लगाकर ज्ञानियों के ही पास पहुंचता है । जिसको विशुद्ध आनन्द की अभिलाषा है वह पुरुष सब तरह से समझकर जिनके विशुद्ध आनंद पूर्ण प्रकट हुआ है ऐसे आत्माओं के निकट ही पहुंचता है ।

**विशुद्धानन्दाभिलाषी भक्त द्वारा विशुद्धानन्दमूर्ति प्रभु की उपासना**—यहाँ इस ज्ञानी की विशुद्ध स्वायत्त आनन्द की अभिलाषा हुई है । ज्ञानी संसार के सुख नहीं चाहता, ये सारे सुख धोखा है, विडम्बना है, क्षोभ है । इन सुखों में उपयोग लगाने पर समझिये कि यह समय ही बरबाद हो रहा है । किसी भी सुख में ज्ञानी की आस्था नहीं है । स्पर्शनइन्द्रियजन्य सुख एकमात्र काल्पनिक सुख है । विषय सम्बन्धी सुख केवल एक मन की वासना की मौज है, उसमें ज्ञानी को क्या प्रीति हो? आत्मा में ये विकार भाव उत्पन्न होते हैं और होकर दूसरे क्षण नष्ट हो जाते हैं । फिर नवीन विकार जगता है । वह तीसरे क्षण नष्ट हो जाता है । इस तरह से विकारभावों की यह जो परम्परा लग गयी है बस यही एकमात्र बिपदा है । इसके अतिरिक्त लोक में और कोई विपदा नही । हम आत्मा हैं, हम ज्ञानानन्दस्वरूप वाले हैं, हम संसार के संकटों से छूटना चाहते और कुछ बात नहीं चाहते, ऐसा निर्णय ज्ञानी के होता है और इसी कारण बाह्यपदार्थों में, अन्य जीवों में जो भी कुछ बात गुजरती है, परिणति होती है उस परिणति का वह ज्ञाता द्रष्टा रहता है, क्योंकि उस ज्ञानी का पूर्ण विश्वास है कि यहां किसी भी परपदार्थ के परिणमन से मेरा सुधार बिगाड़ कुछ नहीं है । मैं ही कल्पनायें करके उन्हें अपनाऊँ तो मैं अपना बिगाड़ कर लेता हूँ । दूसरा मेरा कोई विरोधी नहीं है । सब जीव अपनी-

अपनी कषाय के अनुसार अपनी-अपनी चेष्टा करते हैं । ऐसा सब तरह से निर्णय कर लेने वाला ज्ञानी पुरुष संसार के सुखों में विश्वास नहीं करता ।

**विषयोपभोग से संतोष की असंभवता**—रसनाइन्द्रिय के स्वाद सुख लेते रहने के लिए क्या यह जीवन मिला है? क्या खाते पीते रहने के लिए ही यह सारा समय है? अनादि काल से अब तक जिस-जिस पर्याय में गए तो वहाँ कुछ नु कुछ खाया पिया ही तो है । कहीं खाद खाया, मिट्टी खाया, कहीं घास खाया, कहीं अन्न खाया । यों खाते-खाते में खूब समय गया, पर खाने का दुःख, तो ज्यों का त्यों लगा है । काम तो वह करना है जिसको करने के बाद वह दुःख छूट जाये । खाते खाते न जाने कितना समय गुजर गया, पर खानें का दुःख न मिटा । अरे खाना-खाना तो एक थोड़ीसी दवा है । यह थोड़ा भूख की वेदना को दबा देता है, लेकिन वेदना को मूल से नष्ट नहीं करता । कोई ऐसा उपाय करना चाहिए कि सदा के लिए, भूख प्यास सम्मान अपमान आदिक के संकट दूर हो जायें तथा शरीर मिलते रहने के झंझट भी दूर हो जाये ।

**ज्ञानी द्वारा प्रभुस्मरणशरणग्रहण में प्रधान कारण**—जन्ममरण का क्लेश भी बड़ा भयंकर है । और इस जन्म-मरण के बीच का जो समय है वह समय भी क्लेश में व्यतीत होता है । तो यहाँ की किसी भी बात के अनुकूल हो जाने से मौज मानना यह भी कर्तव्य नहीं और किसी भी बात के प्रतिकूल हो जानें से विषाद मानना यह भी विवेक की बात नहीं । अपने आप में बहुत धीरता लाना है । अपने आपकी दृष्टि जो बाहर में चारों ओर फीक रही है, भ्रम रही है उसको केन्द्रित करना है । कैसे अपने आपके स्वरूप का सम्पर्क बनाया जाय, कैसी दृष्टि और सम्बन्ध किया जाय कि यह ज्ञान अपने ज्ञान स्वरूप में मग्न हो सके? ऐसी भावना जगी है ज्ञानी पुरुष की । तो वह बाहर में किसी का स्मरण करे, गुणगान करे, शरण गहे तो किसकी गहे? जिसका यह ज्ञानस्वभाव -पूर्ण विकसित है, जिसका ज्ञान ज्ञानस्वरूप में मग्न हो गया है, जो संसार के संकटों से सदा के लिए छूट गए हैं, ऐसे पुरुषों की शरण ग्रहण करे । सो इसी प्रयास में यह ज्ञानी यहाँ अरहंत परमगुरु की भक्ति में आ रहा है ।

**प्रभु की श्रीमत्ता**—विवेकियों के आराध्यदेव कैसे हैं वे जिनेश्वरदेव? श्रीमान् हैं । श्री कहते हैं उसे जो आत्मा का आश्रय करे । श्रयते आत्मानं इति श्री: । जो आत्मा का आश्रय करे उसे श्री कहते हैं । श्री आत्मा का आश्रय करती है मगर यह मोही जीव भ्रम करके श्री का आश्रय तकता है । श्री शब्द के अर्थ में ही यह बात पड़ी हुई है कि श्री कहते ही उसे हैं जो आत्मा का आश्रय करे, आत्मा को कभी छोड़े नहीं । वह श्री क्या है? ज्ञानश्री, ज्ञानलक्ष्मी । किसी समय में जब कि ज्ञान का प्रसार था विषयवासनाओं की बात विशेष न थी, जगह जगह ऋषीश्वर विहार करते थे, जब चाहे अरहंत भगवान के साक्षात् दर्शन होते थे ऐसे समय में श्री को ज्ञानलक्ष्मी ही कहा करते थे । ज्ञानलक्ष्मी से जो विभूषित हैं वे हैं सर्वज्ञ वीतराग अरहंतदेव । साथ ही साथ जो लोक में श्री (शोभा) मानी जाती है वह बहिरङ्गश्री भी सर्वोत्कृष्ट विशिष्ट अरहंत भगवान के होती है । अरहंतदेव उस श्री में रंचमात्र भी राग नहीं करते । जरा भी कल्पनायें नहीं जगती । वे तो परमात्मा हो गए ।

यह श्री, समवशरण की शोभा, रचना जो समवशरण में होती है वह और कहीं भी नहीं होती । और सबसे बड़ी भारी श्री शोभा तो यह है कि छह खण्ड के स्वामी चक्री भी जिनके चरणारविन्द में नमस्कार करें । स्वर्गों के इन्द्र जिनके पास बड़े वैभव हैं, बड़ी ऋद्धियां हैं वे भी चरणों में नमस्कार करते और बड़े-बड़े ऋषिसंत समृद्धि शील अंतस्तत्व के रुचिया ज्ञानाभिमुख, जिनकी धुन केवल एक ज्ञानस्वभाव को साधने की है, जो निरपेक्ष हो गए हैं, ऐसे ऋषिराज भी जिनका स्मरण किया करते हैं, वह बहिरङ्गश्री कितनी बड़ी श्री है, ऐसी बहिरङ्ग लक्ष्मी अरहंतदेव को छोड़कर क्या अन्य किसी की हो सकती है? यों ऐसी अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग लक्ष्मी अरहंतदेव को छोड़कर क्या अन्य किसकी हो सकती है? तो ऐसी अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग लक्ष्मी से शोभायमान जिनेश्वरदेव को मैं भक्ति से नमस्कार करता हूँ ।

**विवुधवंदन से प्रभुचरणद्वय की शोभा का वर्णन**—अरहंत परमगुरु के चरणारविन्द की कैसी शोभा कि जब इन्द्र नमस्कार करते हैं तो उनके मुकुट में जो मणि लगी हुई हैं उन मणियों की किरण धारा सीधे चरणारविन्द पर पड़ती है और उस समय ऐसी शोभा लगती कि मानो जल की धारायें प्रभु के चरणारविन्द का प्रक्षालन कर रही है । जैसे दीप, सूर्य आदि प्रकाशमान पदार्थों से किरणें निकलता है और वे किरणें सीधी होती है, टेढ़ी तो नहीं हुआ करती, तो ऐसे ही इन्द्र के मुकुट में लगी हुई प्रकाशमान मणियों की किरणें जब प्रभु के चरणारविन्द पर पड़ती हैं तो ऐसी शोभा होती कि मानो वे किरण रूप जलधारायें प्रभु के चरणारविन्द का प्रक्षालन कर रही हैं; अर्थात् जिनके चरणों में बड़े-बड़े इन्द्र, विवेकी बुद्धिमान लोग नमस्कार करते हैं ऐसे जिनेन्द्रदेव की मैं वंदना करता हूँ ।

**विवेकियों का वीतराग के प्रति आकर्षण**—विवेकी पुरुष वीतराग के प्रति आकृष्ट हो सकते हैं । मूर्खजन, मोहीजन चाहे धनिकों की, स्वार्थियों की सेवा करें, लेकिन, जिन ज्ञानी पुरुषों के संसार, भोगों से वैराग्य जगा है ऐसे ज्ञानी पुरुषों को यदि कोई आकर्षण की वस्तु है तो वह हैं वीतराग जिनेन्द्रदेव देखो ना—स्वर्गों के देव इन्द्र भी जिनकी सेवा के लिए लालायित हैं, मनुष्यों में राजा महाराजा ऋषिसंत प्रजाजन जिनकी सेवा के लिए लालायित हैं, और तो जाने दीजिए, ये पशु पक्षी आदिक तिर्यंच भी जिनकी बुद्धि में किसी भी तरह समझाया जाय तो समझ न बैठे वे भी समवशरण में पहुंचकर प्रभुपूजा प्रभुभक्ति को लालायित रहते हैं । समस्त विवेकी पुरुष जिनकी ओर खिंचे जा रहे हैं और मिलता उनसे कुछ है नहीं दुनियावी दृष्टि से । उनसे धन मिलता नहीं, उनसे परमिट मिलता नहीं, कोई उनसे सुविधा मिलती नहीं, लेकिन ये सभी जीव वीतराग जिनेन्द्रदेव की ओर आकर्षित हुए जा रहे हैं । तो वास्तविकता यह है कि यदि कोई आदर्श की चीज है, आकर्षण की वस्तु है तो वह है रागद्वेषरहित, विकाररहित ज्ञानपुञ्ज । वही विवेकियों के लिए आकर्षण का केन्द्र है । उसही में आनन्द है, शुद्ध आनन्द । लोक में मंगल वही है । लोक में सर्वोत्कृष्ट वही है, इसीलिए इन्द्र राजा महाराजा यति योगी सभी पुरुष जिनेन्द्रदेव की उपासना में अपना उपयोग लगाकर अपने जीवन को धन्य समझते हैं ।

**विवेकियों के आकर्षणकेन्द्र श्री जिनेन्द्रदेव को नमस्कार**—जिनको मुझसे कुछ आशा नहीं । जो इतनी प्रतिष्ठा पाने पर भी अपने मन में रंच भी हर्ष नहीं मानता, जिसमें विकार तरंग बिल्कुल नही उठते हैं, उनके प्रति ही विवेकियों का आकर्षण होता है । हम किसी का सन्मान करें, गुणस्तवन करें, प्रशंसा करें और उस पर वह पुरुष थोड़ा अपना गौरव बताये, थोड़ा अहंकार की बात झलके तो गुणगान करने वाला, प्रशंसा करने वाला अपनी भूल पर पछतावा करने लगता है । अरे मैं कहाँ आकर्षित हुआ? यहाँ तो कुछ भी नहीं है । वीतराग जिनेन्द्रदेव की ऐसी पवित्र आत्मा है कि जिनके गुणस्मरण, गुणस्तवन, प्रशंसा अनेकानेक करने पर भी कभी भी तो रंचमात्र विकार नहीं आता । अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त शक्ति में वे मग्न रहा करते हैं । बस यही कला, यही गुण, यही विकास सर्व विवेकी सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुषों का आकर्षणकेन्द्र हो जाता है । मैं किसकी शरण में जाऊँ जो मुझे सत्य शरण हो, धोखा न हो? वह सत्य शरण है यह जिनेन्द्रदेव, यह वीतराग ज्ञानपुञ्ज । इस वीतराग ज्ञानपुञ्ज के स्मरण में ही ऐसी सामर्थ्य है कि भक्त के भव-भव के जन्म-जन्म के पापकर्म दूर हो जाते हैं । ऐसा केवल ज्ञानतत्त्व अर्थात् आत्मा अपने स्वरूप से जैसा सहज है वही जो प्रकट हुआ है । सर्व परतत्त्व से जो निराला बन गया है, ऐसे जिनेन्द्रदेव को मैं नमस्कार करता हूँ ।

**पञ्च परमगुरुवों में प्रथम अरहंत नमस्कार किये जाने का कारण**—पंचपरम गुरुवों में सर्वप्रथम अरहंत परमगुरु को नमस्कार किया है । णमोकार मंत्र में भी सर्वप्रथम णमो अरहंताणं कहा है । अरहंत पद से सिद्धपद उत्कृष्ट है । अरहंत भगवान के चार अघातिया कर्म हैं । शरीर का सम्बंध है, किन्तु सिद्धभगवान के चार घातिया कर्म भी नहीं रहे और शरीर का सम्बंध भी नही रहा, तो औपचारिक सम्बंध भी सिद्ध में नहीं है तथा अरहंत भगवान भी कुछ ही समय अरहंत रहते हैं । फिर उनके चार अघातियाकर्म नष्ट होते हैं, शरीर का भी वियोग होता है और वे सिद्ध बनते हैं । अरहंतभगवान् सदा अरहंत रहे ऐसा नहीं है अरहंत के बाद थे सिद्ध होते हैं । तो इस दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट पद यद्यपि सिद्ध का है, लेकिन अरहंत भगवान को प्रथम नमस्कार क्यों किया? सो इसके अनेक कारण हैं । पहिली बात तो यह है कि सिद्धभगवान के आत्मा में जो विरागता है, जो सर्वज्ञता है, जो अनन्त चतुष्टय सम्पन्नता है, जो आन्तरिक विकास है यह विकास अरहंत में भी है । आन्तरिक विकास अरहंत और सिद्ध में समान है । अतएव यह गुंजाइश है कि हम प्रथम अरहंत को नमस्कार कर सकें ।

एक कल्पना करो कि सम्भवतया ऐसा भी हो जाय कि अरहंत सदा अरहंत रहें, न अघातिया कर्म नष्ट हों तो उन अरहंत के सिद्धप्रभु की भांति उत्कृष्टता कहाँ हो सकेगी? पर ऐसा नहीं होता । उनके घातियाकर्म दूर हो गये । बाह्य का संपर्क बनाने का मूल कारण तो रहा नहीं, मोह राग द्वेष ये ही शरीर का सम्बंध बनाये रखने के कारणभूत हुआ करते हैं, अत एव उन अरहंत को भी सिद्ध होना होता है । तो क्या यह कहा जा सकता

है कि अरहंत में सिद्ध बनने के बाद कुछ ज्ञान बढ़ गया अथवा आनन्द बढ़ गया? अरे जो ज्ञान और आनंद सिद्ध में है वही ज्ञान और आनन्द अरहंत में है अर्थात् आंतरिक गुण विकास सिद्ध में और अरहंत में एक समान है । इसलिए अरहंत को अगर पहिले नमस्कार कर लिया तो कोई आपत्ति की बात नहीं आयी । अरहंत को प्रथम नमस्कार करने का कुछ कारण और है । सिद्धभगवान को महिमा किसने बतायी? यद्यपि ऋषि संतों ने यहाँ सिद्ध महिमा बतायी, उनके ही ग्रंथ हमें पढ़ने को मिलते हैं, लेकिन यह परम्परा अरहंत भगवान की दिव्यध्वनि से बनी । यों परम उपकार के कारण होने से और सिद्धभगवान का भी पता अरहंत की ध्वनि की परम्परा में लगा है, इस कारण परम उपकार होने के कारण अरहंतदेव को प्रथम नमस्कार किया है ।

**अरहंतप्रभु के प्रथम नमस्कार का अन्य कारण**—अरहंतभगवान को प्रथम नमस्कार के उक्त दो कारण तो अलौकिक कारण हैं, पर लौकिक कारणों पर भी दृष्टि दें । अरहंत भगवान का ध्यान करने से पुण्यबंध बहुत होता है और सांसारिक संकट बाधायें सब समाप्त होती हैं । जितने भी ऋद्धि मंत्र बने हुए हैं उन सबमें अरहंत के अर्थ का अनेक प्रकारान्तर से उनके बीज मंत्र का अन्तर्निधान है । इन अनेक कारणों से हम इस णमोकारमंत्र में सर्वप्रथम अरहंतदेव को नमस्कार करते हैं । उन अरहंतों के विषय में और सुनो । जब हम अनेक संकटों से घिर जाये और बहुत परेशान हो जायें तो किसकी शरण में जायें ? किस जगह हमारा उपयोग जाये? तो वह उपयोग जाता हैं बहुत ही सुगमता से, सीधे ढंग से अरहंत की ओर । अरहंत भगवान हमको दर्शन करने को भी मिल सकते हैं । यद्यपि आज कल हम आपको अरहंत प्रभु के दर्शन नहीं मिलते हैं लेकिन अरहंत भगवान के दर्शन मनुष्यों को मिल जाया करते हैं । अरहंत प्रभु का समवशरण इस पृथ्वी से ५ हजार धनुष ऊपर रचित होता है, जिस समवशरण की रचना बड़े-बड़े इन्द्र कुबेर ऋद्धि सम्पन्न देव आदि किया करते हैं । जैसे—कहते हैं ना कि जिन महापुरुषों के नाम इतिहास में आये हैं उनके विषय में बातें सुनकर जो असर जनसाधारण पर होता है उससे अधिक असर उनके दर्शन करने मात्र से होता है । जो पुरुष निष्पक्ष हैं, जिनकी कषायें मंद हैं, जिनकी प्रवृत्ति उदार है, जो अनेक गुण सम्पन्न हैं उन महापुरुषों के मिलने से जरा जल्दी जनसाधारण पर प्रभाव पड़ता है । महापुरुषों की, पुराणपुरुषों की कथायें सुनकर जनसाधारण पर जो प्रभाव पड़ता है उससे अधिक प्रभाव वर्तमान महापुरुषों के दर्शन करने से पड़ता है । यों देखिये यद्यपि देव दो हैं—अरहंत और सिद्ध, लेकिन अरहंत प्रभु के हमें दर्शन हो सकते हैं अतः अरहंत देव का हम पहिले ही स्मरण करते हैं।

**अरहंतप्रभु के समवशरण की शोभा**—अरहंत प्रभु के समवशरण की शोभा देखिये—जहाँ समवशरण में चारों ओर से गान तान करते हुए देव देवियाँ आ रहे हों, प्रभु की भक्ति में चारों ओर के जीव खिंचे हुए चले आ रहे हों, ऐसा दृश्य यदि देखने को मिल जाय तो जनसाधारण पर इतना प्रभाव पड़ सकता है कि जिसका

वर्णन क्या किया जाय? इन्द्रों की कला की कौन महिमा बताये? जब यहाँ ही बहुत अच्छी तरह अनेक तरह के वाद्य बजाने वाले पुरुषों की कला का इतना अधिक आकर्षण होता है तो इससे हजारों गुनी कलायें उन देव देवियों में होती हैं । उनमें संगीत, नृत्य, भक्ति स्तवन आदि की बड़ी अद्भुत कलायें होती हैं । वे सब देव प्रभु के चरणों में वंदन करने के लिए चारों तरफ से उमड़े आ रहे है, तो यह सब किसका प्रताप है? यह सब प्रताप है वीतरागता का । उस वीतरागता में मनुष्य, पशु-पक्षी आदिक सभी आकर्षित होते हैं । यहाँ घरों में तो परस्पर में दो चार लोगों का ही आकर्षण होता है, यह मेरा पुत्र है, पिता है, अमुक है आदि, लेकिन जिस आत्मा में वीतरागता प्रकट होती है वहाँ देव, मनुष्य, पशु पक्षी आदि सभी जीव आकर्षित होते हैं और वहां पहुंचकर शान्ति पाते हैं, तो उनमें शरीर सम्बन्धी कोई नाता नहीं है, किन्तु एक आत्मतत्त्व का नाता है । जिसने तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया था वह भी अरहंत बनता है और जिसने तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध नहीं किया वह भी अरहंत बनता है । और इस भेद से अरहंत दो प्रकार के हुए एक तीर्थंकर अरहंत और एक सामान्य अरहंत । ऐसे दो प्रकार के अरहंत होने पर भी अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति अनन्त आनन्द आदि जो ये खास गुण हैं, जो अरहंत के खास लक्षण हैं, जिनके बिना अरहंत नहीं कहला सकते उनकी तीर्थंकर अरहंत, सामान्य अरहंत व सिद्ध—इन तीनों में समानता है । ये ज्ञान, दर्शन, शक्ति आनंद आदिक गुण जैसे सिद्ध में हैं वैसे हो अरहंत में हैं । अरहंत प्रभु में सिद्ध प्रभु से किसी प्रकार की हीनता हो, यह बात नहीं है, फिर भी भव्य जीवों का उपकार विशेष अरहंतदेव के निमित्त से है । अरहंत प्रभु की बहुत समय तक दिव्यध्वनि खिरती रहती है जिससे हम आपका उपकार होता है । इस दृष्टि से अरहंतदेव को णमोकारमंत्र में व पंचगुरुभक्ति में प्रथम नमस्कार किया है ।

**तीर्थंकर होने का कारण**—जरा अब अरहंत प्रभु के विषय में कुछ और भी विचारिये । उन अरहंतों में तीर्थंकर वह पुरुष होता है जिसने पूर्वभवों में अथवा उसी मनुष्यभव में सोलह कारण भावनायें भायी, जिन में प्रधान भावना है दर्शनविशुद्धि । दर्शनविशुद्धि का अर्थ है—सम्यग्दर्शन के होने पर लोककल्याण भावना से जो परिणामों में विशुद्धि जगती है उसे दर्शनविशुद्धि कहते हैं । जिन सम्यग्दृष्टि ज्ञानी संत पुरुषों ने यह भावना भायी कि ये संसार के प्राणी अपने आपके अभिमुख उपयोग न करके पर की ओर उपयोग करते हैं, जो कि बिल्कुल व्यर्थ का काम है, जिससे कोई आत्मा में सिद्धि नही होती, इस परोपयोग के कारण जीव व्यर्थ ही भटक रहे है । जिन ज्ञानी पुरुषों के चित्त में आत्मकल्याण करने की भावना आती है उनके ऐसा विकल्प नही है कि मैं जगत के जीवों को यहाँ से छुटाकर इनके कर्मों को नष्ट कर मोक्ष में भेज दूं, किन्तु उनके सीधा यह भाव जगता है कि देखो—ये अपनी ही दृष्टि अपनी ओर कर लें, अपने आपका जो सहज स्वरूप है उसका अनुभव करले तो ये प्राणी अभी शान्त हो जायें, लेकिन इनका पर की ओर उपयोग है, इनका यह परोपयोग कैसे मिटे? वे सब अपने ही परिणमन से परोपयोग कर रहे लेकिन भावना यह जगती है कि इनकी यह परदृष्टि मिटे और स्वदृष्टि मिले तो ये सुखी हों । इस प्रकार की भावना के साथ जो एक विशुद्धपरिणमन

बनता है, उसकी दर्शन विशुद्धि के साथ जो शेष १५ भावनायें समस्त या कम बनती हैं उनसे तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है ।

**तीर्थंकर प्रकृतिबंधक जीव की विशेषता**—जिस मनुष्य ने तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया वह मनुष्य उस भव को त्यागकर या तो देव होगा या नारकी, बीच-बिचौनिया की बात न होगी । यदि किसीने पहिले नरक आयु का बंध किया, सम्यक्त्व जगा, विशेष प्रगति हुई, तीर्थंकर प्रकृति का बंध हुआ तो अब जाना होगा नरक में, मगर तीसरे नरक से नीचे वह नहीं जा सकता । यदि किसी ने क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न किया तो वह पहिले नरक से नीचे न जायगा । क्षयोपशम सम्यक्त्व में तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया तो वह तीसरे नरक तक जा सकेगा । क्षयोपशम सम्यक्त्व मिटेगा और अन्तर्मुहूर्त बाय क्षयोपशम सम्यक्त्व होगा । तीर्थंकर प्रकृति जब से बँधती है, चिरकाल तक निरन्तर वही रहती है, जब तक कि उसके बँधने का आखिरी गुणस्थान आता है । नरकायुबंधी के यह तीर्थंकर प्रकृति बँधी, और जीव नरक जायगा । मरणसमय में मिथ्यात्व आया तो यहाँ का एक अन्तर्मुहूर्त व नरक में अपर्याप्ति का अन्तर्मुहूर्त जो कि बहुत कम काल है, एक ही अन्तर्मुहूर्त है, रहा वह मिथ्यात्व में, इस काल में तीर्थंकर प्रकृति को बंध रुक जाता है । पर्याप्ति होते ही वहाँ फिर क्षयोपशम सम्यक्त्व हो जाता हें तथा तीर्थंकर प्रकृति बँधने लगती है । जो नरक में जीव है, जिसे नरक से निकलकर सीधे तीर्थंकर होना है, जब उसकी आयु ६ माह शेष रह जाती है तो देव लोग वहाँ कोट रचते हैं, उसकी रक्षा करते हैं । उन ६ महीनों में वहाँ कोई नारकी उसको कोई बाधा नहीं पहुँचा सकता और गर्भ में आने के ६ माह पहिले से ही वहाँ रत्नों की वर्षा होने लगती है । ऐसा नहीं होता कि यहाँ तो रत्नवर्षा होती रहे और जिसके उपलक्ष में रत्नवर्षा हो वह जीव नरक में कूटे पिटे । जिस माता के गर्भ से उस तीर्थंकर महापुरुष का जन्म होना है उस माता की देवियां सेवा करती । जब वह गर्भ में आता है तो स्वर्गों से व कल्पोत्तरों से चय कर गर्भ में आने वाले तीर्थंकरों की गर्भकल्याणक मनाते हैं जिस प्रकार, इसी प्रकार नरकगति से आकर होने वाले तीर्थंकरों का भी कल्याणक मनाते हैं । तीर्थंकर प्रकृति का बंध करने वाले आत्माओं का प्राय: स्वर्गों में और उसके ऊपर कल्पांतरों में जन्म होता है, परन्तु बहुत कम कुछ जीव ऐसे भी होते है जो नरकगति में जन्म लेकर वहाँ से निकलकर तीर्थंकर होते है ।

**तीर्थंकर का गर्भकल्याणक**—अब तीर्थंकर का पुण्य प्रभाव देखिये—गर्भ से ६ माह पहिले से १५ मास तक यहाँ रत्नवर्षा होती है । सारी नगरी में आनन्द छा जाता है । वे तीर्थंकरदेव जब से गर्भ में आते हैं तब से अनेक देवियाँ उस तीर्थंकर की माता की सेवा करती हैं । ५६ कुमारिका देवी तथा श्री ह्री घृति, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी आदिक सभी देवियाँ उस तीर्थंकर की माता की सेवा करने में तत्पर रहती हैं । जिस माता के उदर से तीर्थंकरदेव का जन्म होना है उस माता को कोई दुःख नहीं होता । जिस माता के उदर से ऐसे पुण्यवान पुरुष का जन्म होगा उस माता को किसी भी प्रकार की वेदना नहीं होती । जैसे कि अनेक गर्भवती माताओं को वेदना होती है ऐसी कोई वेदना तीर्थंकर की माता को नहीं होती । और भी देखिये कि वे तीर्थंकरदेव गर्भ

में और बच्चों की भाँति लिपटे हुए नहीं रहते हैं, वहाँ वे तीर्थंकरदेव निर्लेप जैसे ढंग से रहते हैं ।

**तीर्थंकर का जन्मकल्याणक**—जब तीर्थंकर का जन्म होता है तो देवों द्वारा उनका जन्मकल्याणक मनाया जाता है । जब वह बच्चा उत्पन्न होता है तो शची प्रसुतिगृह में मायामयी बालक सुलाकर उस बालक को लाकर इन्द्र को सौंपती हैं । शची मायामयी बालक को यों रख जाती है कि वह माता खिलाने को न पाये तो वह विह्वल नहीं हो वह मायामय बच्चा को सुलाकर । जो भगवान होने वाला है, उस बच्चे को अपने दोनों हाथों पर रखकर लाती है । उस समय उस बच्चे की क्या स्थिति होती है? उसके दोनों पैरों के तलवा पूरे दिखते हैं । उस बच्चे के पैरों के तलुवों में चिह्न बने होते हैं । उनमें से जो प्रथम चिह्न दिखा उसकी इन्द्र प्रसिद्धि करता है ध्वजा में बनाकर । उस बालक को सबसे पहिले इन्द्राणी देखती है । जिस इन्द्राणी ने उस तीर्थंकरदेव का सर्वप्रथम दर्शन किया उस इन्द्राणी की ऐसी महिमा बताई गई हे कि वह वहाँ से चयकर मनुष्य होकर उस भव के बाद में मोक्ष जायगी । उस तीर्थंकर के उत्पन्न होते समय इन्द्राणी ने जो उनके तलुवों में चिह्न देखा था उसी की प्रसिद्धि हो जाती है कि अमुक तीर्थंकर का अमुक चिह्न है । इन्द्रादि देव तीर्थंकर को मेरुपर्वत पर ले जाते हैं वहाँ पाण्डुकशिलादि पर विराजमान करके उनका इन्द्र अभिषेक करते है । अमिषेकार्थ क्षीर समुद्र से वे देव जल लाते हैं, उस क्षीर समुद्र के जल को छानने की जरूरत नहीं पडती, वहाँ कोई विकलत्रय जीव नहीं होते । किन्तु यहाँ तो जल छानना ही चाहिये और कुछ समय रखने के लिये प्रासुक भी करना चाहिये । वहाँ १००८ कलशों के क्षीर समुद्रीय जल से भगवान का अभिषेक होता है जिसका परिमाण बहुत बड़ा है । तीर्थंकर के सिर पर वे कलश ढोरे जाते हैं, लेकिन वह बच्चा उससे जरा भी नहीं हिचकिचाता । उन तीर्थङ्कर देव में ऐसा बल है ।

**तीर्थंकर के जन्म के १० अतिशयों में सुरूप, सुगन्धित तन, निर्मल तन व प्रियहित वचन नामक अतिशय**—तीर्थंकर देव के जन्म से ये १० अतिशय होते हैं, जिनका रूप बहुत सुहावना होता है । जिनका शरीर सुगंधमय होता है । अब यहाँ बहुत से मनुष्य महिलायें ऐसे भी होते हैं जिनके शरीर में अधिक दुर्गन्ध होती है । दुर्गन्ध तो सभी के शरीर में हैं, पर किसी के शरीर में कम दुर्गन्ध है किसी के शरीर में अधिक तीर्थङ्कर का शरीर सुगंधित होता है । जिनके शरीर में पसीना और मल-मूत्र नहीं होता, जिनके वचन प्रिय होते हैं और मधुर बोलते हैं । उनके वचन दूसरों को सुनने में प्यारे, दूसरों का हित करने वाले ऐसे प्रिय, हित, मधुर वचन होते हैं । वे पुरुष भी बहुत धन्य थे, जिनसे ये तीर्थङ्कर गृहस्थावस्था में खूब बातें करते थे जिनके बीच उठते बैठते थे । लोक में यह प्रसिद्धि है कि बड़े पुरुष किसी पर गुस्सा भी हों तो भी उसका बड़ा भाग्य है । चलो गुस्सा के रूप में ही मिलाप हुआ । जिस किसी भी प्रकार महापुरुष का सम्पर्क तो बनें । किन्तु यहाँ तो प्रियहितसंलाप में तीर्थङ्कर का मिलन होता है । महापुरुष का सम्पर्क इस जीव का उद्धार कर देता है । वे पुरुष भी धन्य हैं जो गृहस्थावस्था में तीर्थङ्कर के वातावरण में पलते पुसते रहे । तो प्रभु के प्रिय हित मधुर वचन होते हैं । और उस गृहस्थावस्था में भी उनमें अतुल बल है ।

**तीर्थंकर देव का अतुल्य बल**—कविजन तीर्थङ्कर के बल की इस प्रकार उपमा देते हैं कि २० बकरों के बराबर बल एक गधे में होता है, २० गधों के बराबर बल एक घोड़े में, २० घोड़ों के बराबर बल एक भैंसे में, २० भैंसों के बराबर बल एक हाथी में और २० हाथियों के बराबर बल एक सिंह में, २ सिंहों के बराबर बल एक नारायण प्रतिनारायण में और अनेक नारायण प्रतिनारायणों के बराबर बल एक चक्रवर्ती में और अनेक चक्रवर्तियों के बराबर बल एक इन्द्र में और इन्द्र में जितना बल है उतना बल तीर्थङ्कर देव की एक छोटी अंगुली में होता है । तो इस प्रकार से तीर्थङ्कर के बल का वर्णन कवि लोग करते हैं । एक पौराणिक घटना में यह बात आयी है कि जब श्रीकृष्ण नारायण आदि के बल की परीक्षा हो चुकी और नेमि तीर्थङ्कर के बल की परीक्षा होनी थी तो तीर्थङ्कर की एक अंगुली को टेढ़ी कर देने के लिए बड़े-बड़े सुभट नारायण आदि आवे, सबने खूब प्रयत्न किया, पर वे अंगुली टेढ़ी कर सकने में असफल रहे । तीर्थङ्कर में इतना बल होता है ।

**तीर्थङ्कर के श्वेतरक्तवान देह, १००८ देहलक्षण, समचतुरस्रसंस्थान व वज्रर्षभनाराचसंहनन**—तीर्थङ्कर के शरीर का रक्त श्वेत बताया है । यों तो हर एक मनुष्य में दो तरह के खून पाये जाते हैं—लाल और सफेद । लेकिन तीर्थङ्कर के शरीर में केवल सफेद खून होता है । यहाँ भो एक कवि की कल्पना देखिये कि माता को एक अपने बच्चे से प्रेम होने के कारण उस माता के स्तन में दूध आ जाता है । तो फिर जिस तीर्थङ्कर देव को संसार के समस्त प्राणियों के प्रति अपार करुणा है, जिन्हें संसार के समस्त प्राणियों से प्रेम है ऐसे तीर्थङ्कर देव का यदि सम्पूर्ण शरीर श्वेत रक्त वाला हो जाय तो इसमें कौनसा आश्चर्य है? ऐसे तीर्थङ्कर देव के शरीर में १००८ लक्षण होते हैं । जो लक्षण उनकी पुण्यवत्ता के सूचक होते हैं । उनके समचतुरस्रसंस्थान होता है । जितने सही नाप के अंग होने चाहिएँ वे उनके शरीर में पाये जाते हैं । उनके शरीर में वज्रवृषभनाराचसंहनन होता है । जन्मते समय में ही उनमें ये अतिशय प्रकट होते हैं । ऐसे तीर्थंकर देव सकल प्राणियों के द्वारा पूज्य होते हैं, योगी जनों के द्वारा ध्येय होते हैं । उन अरहंतदेव को हमारा भक्तिपूर्वक नमस्कार हो ।

**तीर्थंकर के तपकल्याणकसमारोह में वैराग्यप्रिय लौकान्तिक देवों का समर्थन**—तीर्थङ्कर गृहस्थावस्था में भी देव और इन्द्रों के द्वारा लालित रहते हैं । उनकी भोजनसामग्री और उनका दिल बहलावा आदि का प्रबन्ध इन्द्र करते हैं, और देव इन्द्र उनकी सेवायें करके अपने को धन्य समझने हैं । बहुत समय बाद जब तीर्थङ्कर को किसी कारण वैराग्य उत्पन्न होता है तो उस समय लौकांतिक देव आते हैं जो कभी भो किसी के पास नही जाते, जिन्हें देवर्षि कहते हैं । द्वादशांग के वेत्ता, सदा तत्त्वचर्चा में तत्पर, वैराग्य भावनायें ओत-प्रोत, अपने ही स्थान पर रहकर अपने लक्षण के अनुकूल धर्मसाधना करते हैं । ये देव न तो भगवान का गर्भकल्याणक में आते, न जन्मकल्याणक में आते और न ज्ञानकल्याणक में आते और न निर्वाणकल्याणक में आते उन्हें वैराग्य अत्यन्त अधिक प्रिय होता है । जिसको जो चीज अधिक प्रिय होती है उसकी रुचि उसी प्रसङ्ग में अधिक होती है । तपकल्याणक के समय लौकांतिक देव आते हैं और भगवान के वैराग्य का समर्थन करते हैं । धन्य

है प्रभु आपको, जो संसार शरीर भोगों में विरक्त होकर एक आत्मसाधना के लिए ही पूर्व प्रयत्नशील हो रहे हैं, जिनसे अनेक भव्य जीवो का भी कल्याण होगा, ऐसा समर्थन करके वे देव अपने स्थान में लौट जाते हैं और उसके बाद जब भगवान तीर्थङ्कर घर से निकलकर वन की ओर जाने को उद्यत होते हैं तो इन्द्र एक बहुत शोभायमान पालकी की रचना करता है । पालकी में तीर्थङ्कर महाराज को बैठने की विनती करते हैं ।

**तपकल्याणकसमारोह के प्रसङ्ग में मनुष्यत्व के महत्त्व का परिचय**—तपकल्याणक के प्रारम्भ में एक विवाद खड़ा हो जाता है मनुष्यों में और देवों में । मनुष्य कहते हैं कि इस पालकी को पहिले हम उठायेंगे, देव कहते हैं कि पहले हम उठायेंगे । देवों की दलील भी बहुत सबल थी । गर्भकल्याण, जन्मकल्याणक आदि में मनुष्य कहाँ इनकी सेवा कर सके? सभी उत्सव तो हमने मनाया, तो तपकल्याणक में भी भगवान की पालकी ले जाने का प्रथम अधिकार हमें है । मनुष्य भी अपना विवाद रखने लगे । जब विवाद बढ़ा तो दो-चार पंच दोनों तरफ के मुकर्रर किए गए और दोनों की बातें सुन-सुनकर अन्त में बहुत संयुक्ति पूर्वक विचार कर-करके यह निर्णय हुआ कि जो भगवान के साथ जाकर, इन जैसी साधु दीक्षा लेकर इन जैसा बन सकता हो वही इस पालकी को पहिले ले जायगा । उस समय इन्द्र रोता है और मनुष्यों से प्रार्थना करता है कि ऐ मनुष्यों, मुझे जितना वैभव मिला है, जितनी समृद्धि मिली है सब ले लो और अपना मनुष्यत्व मुझे दे दो । उस समय मनुष्यों का मनुष्यत्व कैसा अनर्ध्य है यह विदित होता है । आखिर सबसे पहिले भूमिगोचरी मनुष्यों ने पालकी उठायी । उसके बाद विद्याधर, उसके बाद देव उस पालकी को ले गए । वहाँ प्रभु किसी वृक्ष के नीचे किसी अच्छे स्थान पर बैठकर वस्त्र उतारते हैं, केशलोच करते हैं 'ॐ नमः सिद्धेभ्य:' बोलकर । वे दीक्षा कार्य स्वयं करते हैं, तपश्चरण करते है, कुछ दिनों को उपवास करते हैं । किसी का दो दिन, किसी का ६ माह, किसी का कितने ही दिन तक उपवास चलता है । फिर पंच आश्चर्य प्रभु की पारणा में प्रकट होते है ।

**तीर्थंकरों की दीक्षासम्बन्धित विशेषतायें**—कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि प्रभु मुनि होने के बाद एक बार ही आहार लेते हैं, लेकिन ऐसी बात नहीं है । तीर्थंकर मुनि होने के बाद अनेक बार आहार लेते हैं । लेकिन प्रथम बार आहार लेने का अधिक महत्त्व पुराणों में वर्णित है । इससे कुछ लोग एक ही बार आहार लेते हैं, ऐसा समझते हैं, लेकिन उनकी अनेक बार आहार होता है । जब से तीर्थङ्कर दीक्षा ग्रहण करते हैं तब से लेकर उनका मौन तब तक रहता है जब तक केवलज्ञान नहीं उत्पन्न होता । बड़ों की बड़ी ही बात होती है । तीर्थङ्करों की गृहस्थावस्था में वृत्ति , श्रावकों की वृत्ति की तरह निर्मल होकर भी वे अविरत सम्यग्दृष्टि रहते हैं । जैसे कि प्रतिमाओं का ग्रहण किया जाना श्रावक दीक्षा में है वे ग्रहण नहीं करते, अविरत सम्यग्दृष्टि रहते हैं और जब वैराग्य होता है तो एकदम सकलव्रती मुनि बन जाते हैं । इसी प्रकार वे गृहस्थावस्था में तो बोलते रहे, लेकिन दीक्षा लेने के बाद उनकी वाणी, उनके वचन अब न खिरेंगे । केवलज्ञान होने पर दिव्यध्वनि खिरेगी । इससे बड़े की महिमा जानी जाती । बोलना हो तो स्वयं अपने आप परिपूर्ण ज्ञान होने पर हो, लेकिन केवलज्ञान से पहिले उनका वचन नहीं चलता है । ऐसा मौनपूर्वक तपश्चरण करके प्रभु को जब

केवलज्ञान उत्पन्न होता है तो उस समय भी इंद्र देव सब आ करके वहाँ केवल कल्याणक उत्सव मनाते हैं । समवशरण की रचनायें होती हैं । प्रभु की दिव्यध्वनि खिरती है । सभी मनुष्य देव आदि धर्मामृत का पान करते हैं । प्रभु केवलज्ञानी होते हैं । इसका अर्थ यह है कि अब प्रभु के ज्ञान में समस्त लोकालोक, त्रिलोक हि कालवर्ती समस्त पदार्थ स्पष्ट झलकते हैं ।

**केवलज्ञान के दस अतिशयों में सुभिक्ष व गगनविहार का निर्देश**—केवलज्ञान के समय तीर्थङ्कर प्रभु के १० अतिशय विशेष प्रकट होते हैं । जहाँ भगवान विराजे हैं वहाँ से सौ-सौ योजन चारों ओर तक सुभिक्ष रहता है । सौ-सौ योजन चारों ओर का अर्थ हुआ ४०० कोश का चारों तरफ का एरिया और कुछ अधिक ढाई मील का एक कोश होता है तो इसके मायने हुए कुल एक हजार मील । एक हजार मील चारों ओर सुभिक्ष रहता है । जैसे हिन्दुस्तान एक ओर से दूसरी ओर तक दो हजार मील या इससे कुछ अधिक होगा । यहाँ भगवान विराजे हों तो समझो कि सारे देश में सुभिक्ष हो गया । वीतराग सर्वज्ञ पावन परमात्मा, जिनेश्वर का स्वभाव जैसा है तैसा निर्बाध प्रकट हो चुका है, वे जहाँ विराजे हैं । वहाँ के आस-पास के लोग दुःखी नहीं रह सकते हैं । प्रभु आकाश में ही गमन करते हैं । वे पृथ्वीतल से ५ हजार धनुष ऊपर स्वयं सहज अपने आप चले जाते हैं और वहीं समवशरण रचना होती है, विहार करते हैं तो वे आकाश में ही विहार करते हैं, उन्हें गगनविहारी कहते हैं ।

**केवलज्ञान के दस अतिशय में चतुर्मुखदर्शन व अदया के अभाव का निर्देश**—प्रभु समवशरण में विराजे हैं । समवशरण में चारों ओर सभायें होती हैं, गोलाकार में बारह सभावों की रचनायें होती हैं । अब जो पीछे बैठे हों वे कहीं व्याकुलचित्त न हो जायें, वे कहीं आपस में झगड़ा न कर बैठे, आगे बैठने दालों से कहीं लड़ न बैठें । इसलिए वहाँ ऐसा होता है कि भगवान का मुख चारों ओर से दिखता है । उनका परमौदारिक देह होने के कारण ऐसा अतिशय होता है कि चारों दिशावों में उनका मुख दिखता है । उनके मुख एक ही है, लेकिन उनमें ऐसी निर्मलता है कि चारों ओर श्रोताओं को उनका मुख दिखता है । अब भी तो जो स्फटिक मणि की प्रतिमायें हैं उनमें आगे पीछे दोनों ओर से बराबर मुख दिखता है । उनमें थोड़ा और विशेष अतिशय है कि उनका मुख चारों ओर से दिखता हैं । प्रभु के उदयाभाव नहीं है, । किसी भी प्रकार का विकार नहीं, किसी पर क्या अदया करें? जैसे कि बहुत से लोग सोचते हैं कि ईश्वर हम पर प्रसन्न होता है, हमें सुख देता है । जिस पर नाराज होता है उसे दुःख देता है, लेकिन परमार्थ से ऐसी बात ईश्वर में नही है । वे रागद्वेष से रहित हैं, केवल ज्ञानस्वरूप को ज्ञान में अनुभवते रहते हैं और उसके फलस्वरूप अनन्त आनन्द का निरन्तर अनुभव चलता रहता है । हम आपको यही स्थिति तो पाना है । हम आपका स्वभाव इस स्थिति के पाने योग्य है, हम है ना कुछ । जो हैं सो हैं । अपने आप अपने ही सहजसत्त्व के कारण जिस प्रकार हैं बस वर्तमान समय में कुछ उपाधि लगी है । जो बाहरी बातें हैं वे सब हट जाये और सहज जैसा अपना सत्त्व है वैसा ही प्रकट हो जाय, इसी के मायने तो परमेश्वर है । परमेश्वर में रागद्वेष नहीं है ।

**केवलज्ञान के दस अतिशयों में उपसर्गाभाव व कवलाहाराभाव का निर्देश**—केवली प्रभु पर अब कोई उपसर्ग नहीं कर सकता । भले ही इस अवसर्पिणी के काल में केवल ज्ञान होने से पहिले मुनि अवस्था में किसी तीर्थङ्कर पर कुछ उपसर्ग हो, यह भी उपसर्ग होने का काम न था, किन्तु एक हुंडावसर्पिणी के दोष से वह उपसर्ग हो जाता है । प्रभु में कवलाहार नहीं है । केवलज्ञान होने के बाद अरहंत भगवान अब मुनिजनों की भाँति आहार लेते हों ऐसी बात नहीं है । जहाँ चार घातिया कर्म नष्ट हो गए, जिनके कोई आकांक्षा नहीं रही । भूख भी बुभुक्षा को कहते हैं, अर्थात् भगवान के अब खाने की इच्छा भी नहीं रही । उनमें अनन्त शक्ति प्रकट हुई है, इस कारण उनके अब कवलाहार नहीं होता । आहार लेने पर बहुत-सी आपत्तियाँ आती हैं । इसका अर्थ यह है कि कुछ बल क्षीण हो गया, कुछ क्लान परिणाम हो गए, कुछ वेदना हो गयी, आहार करने जाना पड़ता है । अनन्त शक्ति फिर वहाँ कहाँ रही? मोहनीय का अभाव होने पर वेदनीय का कोई प्रभाव न रहा । प्रभु कवलाहार से रहित हैं ।

**केवलज्ञान के दस अतिशयों में सर्वविद्यैश्वर्य, नखकेशवद्धयभाव अनिमेषनेत्र व छायाराहित्य का निर्देश**—केवलज्ञान में समस्त विद्यायें आ गई, लोक की कोई भी विद्या, लौकिक अथवा अलौकिक, ऐसी नहीं बची जिसका ऐश्वर्य प्रभु के न प्रकट हुआ हो । वे समस्त विद्याओं के ईश हैं । अब प्रभु के नख और केश नहीं बढ़ते हैं । केवलज्ञान होने पर सभी अरहंत देवों के यह अतिशय होता है कि उनके नख और केश नहीं बढ़ते, कवलाहार नहीं होता, सभी विद्यायें प्राप्त हो गई । तीर्थंकर भगवान के ये दस अतिशय बताये जा रहे हैं । वे अपने सुन्दर परमौदारिक दिव्य देह में विराजे हुए अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति, अनन्त आनन्द का अनुभव करते हैं । केवलज्ञान होने के बाद प्रभु के नेत्र टिमकार नहीं लेते । नेत्र ऊँचे नीचे नहीं उठते गिरते । उनकी नासादृष्टि रहती हे । उनके शरीर की छाया भी नहीं पड़ती । छाया तो अभी कोई कांच का पुतला बना हो उसकी भी नहीं पड़ती । जो काँच चारों ओर से साफ है उसकी छाया नहीं पडती । कदाचित् काँच की छाया पड़ भी जाय, पर प्रभु की ऐसा दिव्य देह है कि उसकी छाया नहीं पड़ती । इस प्रकार केवलज्ञान होने पर प्रभु में ये दस लक्षण प्रकट हो जाते हैं ।

**प्रभु का अन्तरङ्ग अलौकिक अतिशय**—अन्तरङ्ग अतिशय तो प्रभु के अनन्त आनन्द का लाभ है । विकारों का सदा के लिए अभाव है । अब परदृष्टि रागद्वेष मोह आदि किसी भी प्रकार के विकारों का कोई प्रसंग न रहा । सत्य आनन्द इसी स्थिति में है इसीलिए अरहंतदेव हमारे आदर्श हैं । सबको एक यही चुनाव करना है । कोई आत्मा के नाते से पूछे कि तुमको क्या बनना इष्ट है? तुम क्या होना चाहते हो? तो यही उत्तर निकले कि हम परम आत्मा होना चाहते हैं । अरे न जन्म हो; न मरण हो, न भव धारण करना पड़े, न संयोग हो, न नियोग हो, न किसी की ओर दृष्टि जाय तो वह अनन्त आनन्दमय स्थिति है । घर से मतलब है आपका या विशुद्ध अनन्त आनन्दमय बनने से मतलब है? परिवार से मतलब है, देह से मतलब है या अनन्त आनन्दमय बनने से आपका प्रयोजन है? छाँट कर लीजिए । हम को अनन्त आनन्दमय होना है, ऐसा

उपयोग बढ़े, ऐसी दृष्टि बने कि फिर कभी भी हमारी परिणति किसी बाह्य की ओर न जाय, पर की दृष्टि न हो, किसी भी प्रकार का औपाधिक परिणमन न हो, ऐसा सदा चुनाव करिये ।

**नि:संकट अनुभवन की शिक्षा**—इस भव में अनेक संकट आते हैं, अनेक स्थितियाँ आती हैं । इष्टवियोग हो गया, अनिष्ट संयोग हो गया, अरे जरा भी घबड़ाने की बात नहीं है । बहुत ही प्रिय पुत्र हों, मित्र हों, स्त्री हो, आखिर वियोग तो होगा ही । यह तो संसार की रीति ही है । तो हमें सत्यस्वरूप समझना चाहिए । यहाँ मेरा क्या है? सब परद्रव्य हैं, भिन्न हैं, इनका परिणमन इनके आधीन है । संसार में जो कुछ हो रहा है इनके कर्मानुसार हो रहा है, इनकी पात्रता के अनुसार हो रहा है, इनसे मेरा क्या सम्बन्ध? धन जुड़ गया तो जिनके उपभोग में आयेगा उनके भाग्य से । विपत्ति तो यही है कि दूसरे के प्रति मोहभाव जागृत होना । मोहपरिणाम के जागृत होने का ही नाम वास्तव में विपत्ति है, अन्य कोई विपदा ही नहीं । यह आत्मा आकाशवत् अमूर्त, निर्लेप है, जिसका किसी के साथ बन्धन नहीं बन सकता । ये सब निमित्तनैमित्तिक भावरूप बन्धन हैं । रस्सी में रस्सी का ऐसा बंधन बनता है, उस तरह के बन्धन की योग्यता नहीं है, क्योंकि यह आत्मा अमूर्त है, ऐसा अमूर्त आत्मा निर्लेप है, यह किसी से क्या सम्बन्ध रखता है? यह तो अपने स्वरूप में है । अपने स्वरूप का सत्त्व नही रखे हुए है । इसमें किसी भी प्रकार का पर-सम्पर्क नहीं है जो मूर्त पदार्थों में हो सकता है । हाँ निमित्तनैमित्तिक बन्धन चल रहा है । ऐसे इस आत्मा का किसी पर के साथ क्या सम्बन्ध? इसकी कौन स्त्री, कौन पिता, कौन पुत्र, कौन मित्र? जब यह देह भी इसका नहीं तो अन्य कोई कैसे इसका हो सकता है? तब यहाँ हर प्रसंगों में विवेक से काम लेना चाहिए, धैर्य धारण करना चाहिए, यहाँ घबड़ाने का क्या प्रसंग? यदि घबड़ाहट की जाती है तो समझिये कि हम अपने विवेक से चिग गए, ऊधम में आ गए, बाह्य में फंस गए । अपने स्वरूप को निहारो, किसी भी समय किसी भी प्रकार का पर के कारण क्लेश नहीं है । हम अपने में कल्पनायें जगाते हैं और दुःखी होते हैं । यह मर्म जिसके परिज्ञान में आ गया वह संसार से अवश्य तिरेगा ।

भैया ! जन्म-मरण की परम्परा, बनाये रखने में क्या लाभ? आज के समय में इस भव में जो हम परिजनों से मोह रखते हों तो इसका अर्थ यह है कि हम अपनी जन्म-मरण की परम्परा को और बढ़ा रहे हैं । तो हम आपकी छटनी निराकुल निर्वाध परमात्मतत्त्व के लिए होना चाहिये, आत्मा के इन विकासों के लिए होना चाहिए । मुझे तो अरहंत होना है, मुझे तो परमऐश्वर्य प्राप्त करना है । अन्य बातों से हमें कुछ प्रयोजन नहीं । एक मुख्य प्रोग्राम बने, एक मुख्य लक्ष्य हो जाय तो बीच में आने वाली बातों की उपेक्षा हो सकती है । भगवान विहार भी करते हैं केवलज्ञान के बाद, लेकिन राग विरोध उनमें नहीं रहता । जहाँ के जीवों का पुण्यक। उदय होता है उस ओर उनका विहार होता है । जैसे मेघ योग्य रीति से वहाँ ही बरसते हैं जहाँ के जीवो का भाग्य अच्छा है । ऐसा एक निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है । प्रभु वीतराग हो गए, अब वे किस ओर जायें? तो जिस तरफ के लोगों के पुण्य का उदय होता है उस ओर उनका विहार अतिशयों में होता है ।

**सकल परमात्मा के देवकृत अतिशयों में अर्धमागधी भाषा, जीवों में मैत्री, निर्मलगगन, षड्ऋतुफलपुष्प, पृथ्वीकांति का निर्देश**—अब देवकृत चौदह अतिशय सुनिये—उन अतिशयों में कुछ विहार समय में अतिशय हैं, कुछ समवशरण में । यों सब मिलकर ये चौदह अतिशय देवों के द्वारा किए जाते हैं । प्रभु की अर्द्धमागधी भाषा होती है । जिस देश में प्रभु विराजमान हैं उस देश की तो भाषा है ही, साथ ही साथ अन्य देशों की भी भाषायें होती हैं, अथवा भगवान की दिव्यध्वनि जिस प्रकार है सही, उसको सुनकर लोग अपनी-अपनी भाषा में समझ लेते हैं । आज के समय में सुना जाता है कि कुछ यंत्र इस ढंग के तैयार हो रहे हैं कि कोई किसी भी भाषा में व्याख्यान दे उसका रूपान्तर अन्य-अन्य भाषाओं में भी हो जाता है । लाउडस्पीकर तो जगह-जगह हैं, उनकी भाषा बहुत दूर-दूर तक पहुंचती रहती है । जहाँ इन्द्रादिक देव समस्त प्रबंधों के करने वाले हैं, उनमें बहुत-सी कलायें होती हैं जिससे वे बहुत-बहुत अतिशयों को उत्पन्न कर सकते हैं । प्रभु की अर्द्धमागधी भाषा होती है । उनके निकट जो भी जीव पहुंचते हैं उनकी आपस में मित्रता रहती है । उनमें बैर विरोध नहीं रहता । चूहा बिल्ली, हिरण सिंह आदि परस्पर विद्रोही जीव भी भगवान के समक्ष पहुंचने पर अपने बैर विरोध को छोड़ देते हैं । मनुष्य भी परस्पर में एक दूसरे से शत्रुता रखते हों पर वहाँ बैर विरोध नहीं रहता । सब जीवों में परस्पर मित्रता रहती है । वहाँ निर्मल पृथ्वी, निर्मल आकाश रहता है । वहाँ सभी ऋतुवों के फल-फूल एक साथ फल जाते हैं । जिस ओर प्रभु विहार करते हैं उस ओर की भूमि कांच के समान पवित्र होती है । यद्यपि प्रभु पृथ्वी पर पैर धर कर नहीं चलते, किन्तु जहाँ से चलते हैं वहाँ की पृथ्वी काँच के समान निर्मल हो जाती है । वहाँ कंटक नहीं रहते । यह सब कौन करता रहता है? यहाँ यदि प्रोग्राम बनाया जाय तो बड़ी खलबली मचती, बड़ा प्रबंध करना पड़ता, म्यूनिसिपलटी की सहायता लेते, बहुत से नौकरचाकरों की योजना बनाते, लेकिन प्रभु के विहार समय में जिनके ऋद्धि है, जिन में अनेक कलायें हैं, जो क्षणभर में ही कुछ से कुछ व्यवस्था बना सकते हैं वे सारा प्रबंध किया करते हैं ।

**सकलपरमात्मा के देवकृत अतिशय में प्रभुपदतलस्वर्णकमल, जयजयकार, मन्दसुगन्ध पवन, गंधोदकवृष्टि, भूमिनिष्कण्टकता व हर्षमयी सृष्टि का निर्देश**—भगवान जब विहार करते हैं तो उनके चरणकमल के तल में स्वर्ण की रचना होती चली जाती है न, पंद्रह-पंद्रह कमल एक-एक दिशा में रखे हुए हैं । जिस दिशा में प्रभु चल पड़े उसी दिशा में वे कमल बढ़ते चले जाते हैं । इन्द्र को अवधिज्ञान के द्वारा सब पता हो सकता है कि प्रभु किस तरफ चलेंगे तो फिर क्या जरूरत थी सब ओर कमल रखने की? जिस ओर प्रभु का विहार होता उसी ओर कमल रख देना चाहिए था । लेकिन यह एक शोभा है, यह महिमा है । प्रभु जिस ओर भी चल दें उसी ओर कमल रचे होते हैं और आगे रचते हुए चले जायेंगे । वहाँ आकाश से जय-जय की ध्वनियां निकलती हैं । अभी आप लोग ही जब तीर्थराज की वंदना करने जाते हैं एक बहुत बड़े समूह के साथ तो वहाँ जय-जय की ध्वनियों से सारा पहाड़ गूँज जाता है । फिर जहाँ साक्षात् प्रभु विराजे हो, जहाँ देव देवियाँ, मनुष्य आदिक सभी पहुंच रहे हों वहाँ की जय-जय की ध्वनियों का क्या कहना? उस समय बड़ी सुगंध से

भरी हुई वायु चलती है और मंद-मंद सुगंधित जलकण की वर्षा होती रहती है । वे जलकण किसी को व्याकुलता न उत्पन्न करें और सबके संताप मेट दें, मानो इस प्रयोजन को साधने वाले गंधोदक की वृष्टि होती है । भूमि निष्कंटक होती है । सभी लोग हर्षित होते हैं । ऐसे अतिशय जिनके समवशरण में व विहार समय में हुआ करते हैं, उन प्रभु की महिमा समझ करके लोग धर्म की ओर प्रेरित होते हैं, और ऐसा होना भी चाहिए कि जब एक परम आत्मा संसार से बिदा होने की तैयारी में है । सदा के लिए इस-संसार से निकल जायगा, मुक्त हो जायगा, उसका सम्मान, उसका स्वागत, उसकी बिदाई, उसका समारोह ये सब कितने ऊँचे पैमाने में होने चाहिएँ, सो वे सब देव इन्द्र आदिक करते हैं । साथ ही वीतराग होने के नाते भक्ति भी उनके प्रति प्रबल है । ऐसे अरहंत भगवान को पंचगुरुभक्ति में यह ज्ञानी संत नमस्कार करता है ।

**अरहंत प्रभु की जगन्मान्यता**—जो भगवान भी हो और जिससे किसी विधि सम्पर्क भी हो सके ऐसे भगवान हैं तो अरहंत देव हैं । इसी कारण उपासना में इस ही सकल परमात्मा को पहिले लक्ष्य में रख लेने से और फिर उसके प्रति भिन्न-भिन्न ख्याल बन जानें से भिन्न-भिन्न रूप हो गए, पर मूल में यही रूप था उस व्यवहार का । जैसे कि लोग कहते हैं कि भगवान चतुर्मुख हैं, ब्रह्मा चतुर्मुख है; तो समवशरण में उनका चारों ओर मुख दिखता है सो चतुर्मुख होते हैं, इसमें कोई गलत बात तो न रही, लेकिन उसमें मूल लक्ष्य जो वीतरागता और सर्वज्ञता है इन दो मूल तत्त्वों को तो छोड़ दिया याने असली स्वरूप से तो चूक हो गयी और चतुर्मुखपन और विधातृत्व—ये दो बातें मुख्य हो गयीं । अरहंतदेव को लोग विधाता भी कहते हैं । इसमें भी लोगों ने वीतरागता और सर्वज्ञता को तो छोड़ दिया अब केवल उस विधातृत्व में क्या दम रही? मोक्षमार्ग की विधि का विधान अरहंतदेव द्वारा होता है । आज की परम्परा में सर्वप्रथम ऋषभदेव तीर्थंकर हुए । उन्होने भोगभूमिया के अन्त में कर्मभूमिया की आदि में घबड़ाये हुए लोगों को सब विधि विधिविधान बताया, फिर से एक नवीन सृष्टि सी हुई । एक नई रचनासी ही तो की । कोई लोग भगवान को नाभिकमल से पैदा हुआ बताते हैं । नाभि में से कमल निकला, उस पर वे उत्पन्न हुए, तो इसका भी सिलसिला कुछ-कुछ तो है ही । बाद में बिगड़-बिगड़कर उसका रूप ज्यादह भिन्न बन गया । अरहंतों में तीर्थंकरों में इस परम्परा में आये हुए ऋषभदेव थे जो कि नाभिराजा के पुत्र थे । तो नाभि से उत्पन्न हुए, ये नाभिकमल से पैदा हुए, भगवान माने जाते हैं । प्रयोजन यह है जितने भी दर्शन हैं, जितने भी लोगों के मंतव्य हैं प्रभु के रूप में वे सब मंतव्य आदि में जिस समय उठे थे वे प्राय: सकलपरमात्मा को लक्ष्य में लेकर चले । धीरे-धीरे बिगड़-बिगड़कर विशेषरूप बन गए । जैसे कि किसी एक ही समाज में मानो जैनसमाज में सबसे मूल में क्या बात थी? सभी एक पथ के अनुयायी थे । अब बात तो मूल में यही रही, लेकिन भेद प्रभेद होकर कितनी ही तरह के पंथ निकले हैं और वे परस्पर में एक दूसरे को अपने से विरुद्ध मान लिए गए हैं । यों समस्त दर्शनों की दृष्टि से देखो तो किसी समय में केवल एक ही शासन था, एक ही दर्शन था और वह दर्शन एक व्यापक दर्शन था, समन्वयात्मक दर्शन था । जिसमें सब मंतव्य गर्भित हों उन सब को बताने वाला भी दर्शन था, पर उसके

मानने वालों को अनुभव कुछ था नहीं जिससे बन करके दर्शनों के बड़े-बड़े मजहब के रूप हो गए ।

**प्रभु के प्रातिहार्यों में अशोकवृक्ष व सिंहासन का निर्देश**—अरहंत भगवान को अरहंत कहो या अल्य: कहो । ये प्रभु पृथ्वीतल से ५ हजार धनुष ऊपर विराजे रहते है । उन्हें किसी से सेवायें लेने की कुछ जरूरत नहीं है, वे वीतराग सर्वज्ञ देव हैं । अपने आप में ही तृप्त रहते हैं, परम निर्मल है लेकिन तीर्थंकर प्रभु का पुण्य प्रताप कहो अथवा वीतरागता से आकर्षित होकर घर्मप्रेमियों का अनुराग कहो, उनके सेवक उनके प्रतिहार इन्द्र होते हैं । प्रतिहार कहते हैं मुख्य द्वारपाल को मुख्य सेवक को और प्रतिहार के द्वारा जो कार्य किए जायें उन्हें कहते है प्रातिहार्य । भगवान के ऐसे आठ प्रातिहार्य होते हैं और प्रतिहार द्वारा परिकल्पित होते हैं । पहिला प्रातिहार्य है अशोकवृक्ष के तल में भगवान का विराजना । समवशरण में भो अशोकवृक्ष को एक रचना होती है, वह देवकृत रचना है । उस वृक्ष का नाम अशोक यों पड़ गया कि जो पुरुष प्रभु के दर्शन करता है, जिस वृक्ष के निकट विराजे हैं उस वृक्ष के दर्शन करने से उनका शोक दूर हो जाता है अतएव वह अशोक वृक्ष कहलाता है । दूसरा प्रातिहार्य है बड़ा कान्तिमान सिंहासन होना । सिंहासन का अर्श है श्रेष्ठ आसन । कहीं सिंह का अर्थ यहाँ उस चार पैर वाले सिंह पशु से नहीं है । यद्यपि आज कल लोग प्रभु के सिंहासन में कुछ सिंह के पञ्जे वगैरह बना देते हैं, पर सिंहासन का मतलब सिंह (पशु) वाले आसन से नहीं है, बल्कि श्रेष्ठ आसन से है । ऐसे मणि-रत्नजटित बहुत शोभायमान आसन को सिंहासन कहते हैं ।

**प्रभु की वीतरागता**—प्रभुसेवा में वहाँ सिंहासन रचा जाता है, लेकिन प्रभु जिस सिंहासन पर विराजमान हैं उसे वे छूते नहीं । इस लक्ष्मी ने बहुत प्रयत्न किया कि मैं प्रभु को छू तो लूं, लक्ष्मी के मायने हैं शोभा श्रृंगार । लोक की मूल्यवान वस्तुवें मणि रत्न आदिक इन सबका एक आधार कहा जा रहा कि ऐसे वैभवसम्पन्न समवशरण में प्रभु विराजमान हैं फिर भी वह सिंहासन प्रभु को छू न सका । गंधकुटी बनी, सिंहासन उन पर वह लक्ष्मी प्रभु को न छू सकी । तो लक्ष्मी ने सोचा कि हम नीचे से चलकर प्रभु को छू न सके तो अब ऐसी करें कि ऊपर से प्रभु के शिर पर गिरें तब तो छू लेंगे । सो लक्ष्मी ने तीन छत्र के रूप में ऊपर से गिरकर मानो प्रभु को छूना चाहा, पर वे छू न सकी । लक्ष्मी किसी को छूती नही । पुरुष ही लक्ष्मी को छूते हैं । वैभव सोना चाँदी और सब जो कुछ भी मूल्यवान वस्तुवें हैं उनको लोग तिजोरी में जमा करते हैं । पुरुष उस लक्ष्मी को छूने लगता है तब पुरुष फिर संसारी ही रहता है और वीतराग सर्वज्ञदेव जो इस लक्ष्मी को छूना भी नहीं चाहते उनके चारों ओर से, अगल-बगल से, ऊपर नीचे से आ आकर वह लक्ष्मी प्रभु को छूना चाहती है, पर वे प्रभु उससे निर्लेप रहते हैं । सिंहासन के ऊपर कमल और उसके चार अंगुल ऊपर प्रभु विराजमान रहते हैं और उनके सिर के ऊपर तीन छत्र फिरते रहते हैं । अरहंत भगवान का साकार स्वरूप क्या है यह भी ज्ञात हो जाय तो भक्ति में बहुत प्रीति उमड़ती है । समवशरण का पूरा दृश्य रचना, प्रभु का विराजमान होना, बारह सभाओं का लगना और जो-जो उसके प्रातिहार्य है, मंगल द्रव्य हैं सबमें युक्त जब वह

चित्रण चित्त में आता है तो एक वेगपूर्वक भक्ति उमड़ती है । प्रभु का दूसरा प्रातिहार्य सिंहासन है ।

**सकलपरमात्मा के प्रातिहार्यों में छत्रत्रय, भामण्डल व दिव्यध्वनि का निर्देश**—तीसरा प्रातिहार्य है तीन छत्रों का होना । जो तीन छत्र यह घोषणा कर रहे हैं कि वे प्रभु तीनों लोकों के अधिपति हैं । त्रिलोकाधिपतित्व की सूचना मानो वे तीनों छत्र दे रहे हैं । चौथा प्रातिहार्य है भामण्डल का होना । प्रभु के शरीर की कान्ति का एक भामण्डल बन जाता है । जैसे चन्द्र कान्तिमान होता है और उसके गोल फेर एक कान्ति का मण्डल बना रहता है । इस प्रकार कान्तिवान् परमौदारिक दिव्य देह का मण्डल बनता है जिसे भामण्डल कहते हैं । ५ वाँ प्रातिहार्य है भगवान का दिव्यध्वनि खिरना । दिव्य ध्वनि यद्यपि भव्य जीवों के भाग्य से और प्रभु के वचनयोग से खिरती है फिर भी प्रतिहार ने उस सम्बन्ध में क्या किया है? एक उस ध्वनि को बहुत दूर तक फेंक दिया है, याने लाउड स्पीच देता है और उस ध्वनि से जितना जो कुछ सम्भव होता हो यंत्रों द्वारा कुछ-कुछ रूपों में परिवर्तित कर दिया है। ये सब उसमें और विशेषतायें आती हैं । यह दिव्यध्वनि भी प्रातिहार्य है ।

**प्रभु के प्रातिहार्यों में पुष्पवृष्टि वे चमर ढुरने का वर्णन**—छठवाँ प्रातिहार्य है पुष्पवृष्टि होना । देव देवियां आकाश से उतरते हुए पुष्पवर्षा करते हैं । ये पुष्प स्वर्ग के कल्पवृक्ष के हैं और ऐसे हैं कि जिनमें कीट का विकलत्रयों का सम्बन्ध नहीं, उन पुष्पों की वर्षा की जाती है । अब यदि यहाँ पुष्पवर्षा का नाम सुनकर किसी साधु के सामने फूल चढ़ाये जाये तो वह उसके दोष के लिए है। विकलत्रयों की हिंसा हुई, असंख्यात वनस्पति जीवों का देह तोड़ा गया और उसमें कोई साधु लुभाते नहीं हैं । यदि कोई साधु लुभायें तो वे साधु नही । तो वहाँ जो वर्षा हुई वह कल्पवृक्ष के फूलों को हुई । जो पुष्प बरसते हैं, ऊपर से जो फूल नीचे गेरे जाते हैं तो किस तरह गिरना चाहिए? उनका जो डंठल है उसे ऊपर करके फूल डालना चाहिए । वह तो विनय में शामिल है और वह शोभा में शामिल है । डंठल अगर ऊपर हो गया तो फूल का विकसित स्वरूप नीचे रहेगा, पर पुष्पवर्षा प्रभु के शरीर पर नहीं होती, अगल-बगल में होती है, सो बह फूल ऊपर से इस तरह डाला गया कि नीचे तो है विकसित स्वरूप और ऊपर है डंठल । (डंठल का नाम बंधन भी है) लेकिन वे फूल ऊपर से गिरते-गिरते मानो आधी दूर आकर ही उनका डंठल तो हो जाता है नीचे और विकास स्वरूप हो जाता है ऊपर । तो ऐसे गिरने वाले पुष्प दुनिया को यह शिक्षा दे रहे हैं कि देखो हमारी तरह जो प्रभु के अरहंतदेव के चरणों में गिरेगा उसके बन्धन नीचे हो जायेंगे, ढीले हो जायेंगे और विकास स्वरूप उन्नत हो जायगा । ७वां प्रातिहार्य यह है कि चौंसठ यक्ष चमर ढोलते हैं । ये सब विभूतियां दिव्य है । ये ढुलते हुए चमर नीचे ऊँचे उठकर यह शिक्षा दे रहे हैं मानो कि जो जीव प्रभु के चरणों में झुकेगा वह ऊपर उठेगा याने उसका उद्धार हो जायगा । ८वां प्रातिहार्य दुंदुभि वाद्य का घोष होना है, मानो यह दुंदुभि घोषणा करती है हि जिन आत्माओं का संसार के संकटों से छूटना हो वे आत्मा यहाँ कार्यपरमात्मा के चरणों के निकट आवें । ये प्रभु संसारसंकटों से सर्वथा मुक्त हैं, इनके स्वरूप की उपासना से मुक्ति का मार्ग अवश्य प्राप्त होगा ।

**अरहंत प्रभु के अघातिया कर्मों के क्षय का विधान**—उक्त ८ प्रातिहार्यों के बीच शोभायमान ये अरहंत देव अपने स्वरूप में मग्न हैं, जिसके बल पर उनकी पूजा हुआ करती है । जिसके बल पर वे त्रिलोकाधिपति कहलाते हैं । प्रभुता की मूल बात है अपने आत्माराम में निर्विकल्परूप से रमण करते रहना । इसी के बल पर उनका ज्ञान भी केवलज्ञान है, इसी के बल पर अनन्त ज्ञानदर्शनशक्तिआनन्द का चतुष्टय उनमें प्रकट हुआ है । ये अनन्त चतुष्टय सम्पन्न प्रभु केवलज्ञान की अवस्था में बहुत काल तक विहार करते रहते हैं । जब आयु समाप्ति का काल होता है उससे कोई १ माह पहिले, कोई १५ दिन पहिले, कोई कुछ ही समय पहिले योगनिरोध करते हैं । यह योगनिरोध स्थूल योगनिरोध है अर्थात् उनका विहार बन्द हो जाता है, दिव्यध्वनि बन्द हो जाती है और एक ही जगह स्थिरता से वे स्थित रहते हैं । जब अन्तर्मुहूर्त का समय रह जाता है आयु की समाप्ति में तो उस समय प्राय: यदि आयुकर्म है अन्तर्मुहूर्त का और शेष कर्म हैं बहुत अधिक लाखों वर्षों के भी हों नामकर्म, गोत्रकर्म और वेदनीयकर्म, तो ऐसा तो होगा नहीं कि आयु का तो क्षय हो जाय और उन कर्मों की सत्ता बनी रहे । चारों अघातिया कर्म एक साथ नष्ट हो गए तो उस समय सहज ही उनके समुद्घात होता है । अपने आप देह को न छोड़कर वहाँ वे प्रदेश रहे, और लोक में भी प्रदेश फैल जाये उसे समुद्घात कहते हैं । पहिले होता है दंड समुद्घात । शरीर प्रमाण वे प्रदेश नीचे से ऊपर तक १४ राजू तक फैल जाते हैं । फिर होता है कपाट समुद्घात । अगल-बगल के प्रदेश उनके फैलते है, जहाँ तक लोक में जगह मिलती है एक वातवलय को छोड़कर । फिर आगे पीछे प्रदेश फैलते है जहाँ तक वातवलय न आये । इसके बाद फिर लोकपूरण समुद्घात में वातवलय भी परिभूत हो जाता है । लोग कहते हैं कि भगवान घट-घट में रहते हैं, कण-कण में, दाने-दाने में रहते हैं, प्रत्येक देह में । प्रदेशों की अपेक्षा यदि इसका अर्थ लगाया जाय तो एक समय अवस्था ऐसो आती है कि प्रभु के लोकपूरण? समुद्घात में इस लोकभर में उनका आत्मा सर्वत्र फैल जाता है । पर कंकड़-कंकड़ में, दाने-दाने में भगवान हैं, यह बात घटित नहीं होती । जैसे लोग कहने लगते कि यह आत्मा सर्वत्र है तौ इसमें कुछ सम्पर्क नहीं हो गया, किन्तु एक समय ऐसी अवस्था होती है कि भगवान के प्रदेश लोक में सर्वत्र मिलेंगे । इसके बाद फिर संकोच होता है । प्रतर समुद्घात जैसी स्थिति बनती, फिर कपाट समुद्घात जैसी स्थिति होती, फिर दंड समुद्घात जैसी स्थिति होती, फिर उस शरीर में वे प्रदेश समा जाते हैं । इस सम्बन्ध में क्या होता कि शेष जो तीन अघातियाकर्म अधिक स्थिति के थे वे आयुकर्म की स्थिति के बराबर हो जाते हैं, फिर उस ही अन्तर्मुहूर्त में अनेक-अनेक अन्तर्मुहूर्त पड़े हुए हैं, फिर श्वास का निरोध होता, वादरकाय का, मनोयोग, वचनयोग का फिर सूक्ष्मकाययोग का । जब सूक्ष्मकाययोग भर रह जाता है उस समय भगवान के तीसरा शुक्लध्यान होता है । सूक्ष्म क्रियाऽप्रतिपाती शुक्लध्यान होता है । बस यह समय निकला कि वे अयोगकेवली होते है । अब सुक्ष्मकाय का भी कोई योग न रहा और ५ ह्रस्व अक्षरों के शीघ्र बोलने में जितना समय लगता है उतने समय में वे अष्टकर्मों से मुक्त

होकर, चार अघातिया से भी मुक्त होकर, देह से भी मुक्त होकर सिद्ध हो जाते हैं । इसे कहते हैं निर्वाण ।

**प्रभु का निर्वाणकल्याणक समारोह**—प्रभु का निर्वाण कल्याणक भी देव और इन्द्रों के द्वारा मनाया जाता है । दीपावली का जो त्यौहार मनाया जाता है वह भगवान के निर्वाण कल्याणक का ही समारोह है । निर्वाणकल्याणक में देव, इन्द्र आदि बड़े उत्सव मनाते हैं । तो प्रथम बात यह है कि जिस स्थान से प्रभु मुक्त हुए हैं उस स्थान विशेष में आकर्षण उनका विशेष होता है, और फिर यह भी कहा गया है कि भक्ति में देव एक मायामय पवित्र देह रचते हैं और उस देह पर इन्द्र लोग सब अपने शीश झुकाते हैं । अग्नि कुमार जाति के देवों की उस समय बहुत उपयोगिता होती है । वे भी अपने मुकुट नमाते हैं, तो उस नमस्कार के समय एक ज्वाला निकलती और वह मायामय देह भस्म होता है । भगवान के निर्वाण कल्याणक होने पर उनका वह परमौदारिक दिव्य देह परमाणु परमाणु, सूक्ष्म-सूक्ष्म बिखरकर कपूर की तरह उड़कर अलग हो जाता है । वहाँ देह नहीं रहता । लेकिन नख और केश ये दो रह जाते है और फिर उन नखों को वे देव क्षीर समुद्र में सिरवाते हैं । इस तरह पंचकल्याणक से विभूषित तीर्थंकर अरहंतदेव को भक्तिभाव से नमस्कार करता है ।

**अरहंतों का आन्तरिक अतिशय और उनके वंदन से मांगल्यप्राप्ति**—अरहंत का मूल स्वरूप है अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति, अनन्त आनन्द सम्पन्न होना । जो ३४ अतिशय बताये गए थे उन अतिशयों में तीर्थंकरों में तो समस्त होते हैं, पर सामान्य अरहंत में कोई अतिशय कम भी रह सकता है । ये अतिशय बाहरी चीज हैं, उनका आन्तरिक अतिशय पूर्णगुणविकास है । ये प्रभु अनन्तचतुष्टय सम्पन्न हैं । चाहे कोई मुनि अपने समय में ऐसे हों कि जिनसे कोई लोग विशेष परिचित भी न हो सके हों, जिनका लोगों पर कोई विशेष आकर्षण भी न हुआ हो, उन्होंने अपना ध्यान एक अनुरूप सही बनाया, जिसके प्रताप से चारघातियाकर्म नष्ट हुए, अरहंत हुए, तो अब उनमें जो आन्तरिक विकास है वह तीर्थंकर से कम नहीं है । समान स्थिति रहती है । तो अरहंत का लक्षण है अनन्त चतुष्टय सम्पन्नता । ऐसे मंगलस्वरूप अरहंतदेव हम सबको भी मंगल प्रदान करें । मंगल उसे कहते हैं जो सुख को लावे और पापों को गलावे । ऐसा कौनसा भाव है, ऐसी कौनसी वस्तु है जो हम में सुख पैदा करे और पापों को नष्ट करे? धूप खेने से क्या पापकर्म नष्ट हो जायेंगे? अथवा कोई ईधन जलाने से हवन आदि से क्या ये पापकर्म नष्ट हो जायेंगे? क्या हमारी ऊपरी शारीरिक क्रियावों से यात्रा बदन नमस्कार आदि जो भी शरीर से क्रियायें करते हैं; वचनों से कहते हैं क्या इन क्रियावों से पाप नष्ट हो जायेंगे? पाप नष्ट करने वाला तो एक विशुद्ध परिणाम है । विशुद्ध परिणाम के होते हुए ये सब क्रियायें प्राय: ज्ञानी पुरुषों के हुआ करती हैं इसलिए इन बाह्य क्रियावों की भी प्रशंसा की है और बहुत आवश्यक बताया है, पर वस्तुत: तो विशुद्ध परिणाम ही पापों का गलाने वाला है । सर्वोत्कृष्ट विशुद्धि यह है कि आत्मा का जो सहजस्वरूप है, ज्ञानमात्र ज्ञानस्वभावात्मक एकात्मकता रूप में अनुभवन करना, यही विशुद्धतर परिणाम है । इसके लक्ष्य से, इसकी उपासना से इसके किसी प्रकार के अनुभव से ये सब पाप विनष्ट होते हैं । तो मंगल का कारण वह विशुद्ध भाव है और सुख को लाने वाला भी वह विशुद्ध

भाव है । तो ऐसा विशुद्धभाव, धर्म मंगलमय हो । अरहंत भगवान के वंदन से नमस्करण से हम सबको भी मंगल प्राप्त हो ।

**अरहंत, अरिहंत अरुहंत शब्द के अर्थ से प्रभु की विशेषता का परिचय**—अरहंत भगवान को अरिहंत भी कहते हैं और अरहंत भी कहते है । अरहंत का अर्थ है जो कि पूज्य है। अरिहंत का अर्थ है जो मोह शत्रु को नष्ट करने वाला है । अरि मायने शत्रु, हंत मायने नष्ट करने वाला, रागद्वेष मोह का विनाश करने वाले परमात्मा को अरिहंत कहते हैं । अरुहंत का अर्थ है—संसार, जन्ममरण, विकार, रागद्वेष आदि के अंकुर जिनके अब न उगे । ऐसे अरहंत प्रभु का जिन्हें समागम मिला है, जिन्होंने दर्शन किया है उन ज्ञानी संतों ने उस मिलाप के सामने किसी को महत्त्व नहीं दिया । क्या परिवार, क्या राष्ट्र, क्या वैभव, क्या कीर्ति आदिक ये सभी अर्हद्दर्शन के समक्ष असार बातें हैं । इस लोक में हम आप सभी जीव न कुछ साथ लाये हैं, न कुछ साथ ले जायेंगे, यह बात सबको अच्छी तरह विदित है, किन्तु इस जीवन की यह परिस्थिति कितनी कडुवी बन रही है, कैसा अज्ञान अन्धेरे में नृत्य हो रहा है, कैसा बेकार और विचित्र उपयोग बन रहा है कि जिससे कुछ अपने आत्महित का सम्बन्ध नहीं, ऐसे विकल्पजाल का ही तो नाम संसार है । प्रभुदर्शन मिले, प्रभुवाणी मिले, प्रभु गुणस्मरण बने, प्रभु में चित्त रहे, तो यह जो हमारी परिणति है, वीतरागदेव का स्मरण करने का जो हमारा परिणमन है, यही मेरे लिए शरण है, बाकी अन्य प्रकार के विकल्पजाल जगत की बरबादी के ही कारण हैं । ऐसा निश्चय करके अर्हद्भक्ति के लिए हमें उत्सुक रहना चाहिए ।

**अरहंत प्रभु के परम अनुराग में अर्हद्बिम्बभक्ति**—अब आज अरहंतप्रभु तो साक्षात् मिलते नहीं, तो जिसमें तीव्र भक्ति होती है वह उसका चित्र फोटो स्टेचू आदि कुछ न कुछ बना कर अपनी आँखों के सामने रखता है, दुकान पर घर पर किसी भी जगह रखता है यहाँ मुमुक्षु को, जिज्ञासु पुरुष को अरहंत भगवान में अति प्रीति है तो अरहंत भगवान त्रिलोक पूज्य भगवंत देव हैं, अतएव जैसा चाहे मिट्टी का पुतला बना लें, चित्र बना लें, या कोई खिलौना जैसा ढलवा ले, उस प्रतिबिम्ब को रखें, उसे माने, यह तो विनय के प्रतिकूल है, और करना कुछ इसी प्रकार पड़ेगा । एक बिल्कुल सुडौल समचतुरस्क संस्थान वाली ऐसी पाषाण या धातु की मूर्ति जो कि मिट्टी की तरह गल न जाय, जो पानी के पड़ते ही मिट न जाय, जो जरा सी ठोकर लगने पर टूट न जाय, ऐसे पुष्ट पाषाण का प्रतिबिम्ब तैयार कर पंचकल्याणक विधि से जिसे अनेक पुरुष पंचकल्याणक का दृश्य देखकर रोज-रोज उसके प्रति भावना बनाये, ऐसी अनेक भावनाओं के साथ, मंत्रादिक विधानों के साथ जो प्रतिबिम्ब प्रतिष्ठित होता है उसमें अरहंतदेव की स्थापना करके उनके दर्शन करते हैं । जो लोग इस रहस्य को नहीं समझते कि इस प्रतिबिम्ब में अरहंतदेव की स्थापना की है, जो चारघातिया कर्मों से रहित, परमौदारिक दिव्य शरीर वाले वीतराग सर्वज्ञदेव हैं, जिनसे इस जिनवाणी का प्रणयन हुआ है उन अरहंतदेव की इस मूर्ति में स्थापना हुई है, ऐसा मर्म जिसे विदित नहीं है वह यथा तथा साधारणजनों की भाँति भावावेग में डोलता है । यह मूर्ति ही भगवान है, यह ही मेरी मनोकामनायें पूरी करेगा, यही हमारे इष्ट

की सिद्धि करेगा, जिनका ऐसा भाव होता है उनके चित्त में वह ज्ञानपुञ्ज नहीं समा सकता है, तो भगवान का दर्शन भी उन्हें नहीं मिल सकता, मुक्ति का मार्ग भी नहीं मिल सकता । सही ज्ञानपूर्वक हम अरहंत बिम्ब के दर्शन करके अरिहंत स्वरूप का स्मरण करते हुए अपने उपयोग को पवित्र करें । पंचगुरु के चरण ही हैं शरण जिसके, ऐसे भक्त को इसके अतिरिक्त और कहीं भी शरण बुद्धि नहीं होती है, ऐसा भक्त प्रथम ही प्रथम अरहंत परमगुरु को भक्तिपूर्वक नमस्कार कर रहा है । अन्तरङ्ग बहिरङ्ग लक्ष्मी से युक्त, देव देवेन्द्रों के द्वारा पूजित, पञ्चकल्याणक आदिक महोत्सवों से युक्त, ज्ञान दर्शन, आनन्द शक्ति के अनन्त भण्डार, जिनेश्वरों को मैं भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूं । अब अरहंत प्रभु नमस्कार के बाद सिद्ध भगवान को नमस्कार करने का इस भक्ति में छन्द आता है ।

## श्लोक 2

**अष्टगुणैः समुपेतानु प्रणष्टदुष्टाष्टकर्मरिपुममितीन् ।**
**सिद्धान् सतत मनन्तान्नमस्करोमीष्टतुष्टिसंसिद्धयै ।।२।।**

**सिद्ध परमेष्ठी को नमस्करण**—मैं सिद्ध भगवान को नमस्कार करता हूँ, अनन्त सिद्धों को नमस्कार करता हूँ । मैं सतत निरन्तर अनन्त सिद्धों को नमस्कार करता हूँ जो अष्टगुणों से सहित हैं और समस्त अष्ट कर्मशत्रुवों को जिन्होंने नष्ट किया है । यह आत्मा अपने आप सहज किस स्वभावरूप है? जब उस स्वभाव का विकास होता है तो उन विकासों के परिणमन से, परिज्ञान से हम यह समझ पाते हैं कि इस आत्मा का सहजस्वभाव कैसा है? किसी एक बड़े पत्थर के भीतर क्या है, स्वयं अपने आप उस जगह क्या है? यह बात भी जान सकेंगे जब कि ऊपर के आवरण हटें । ऐसे ही मेरे आत्मा में सहजस्वभाव क्या है, यह बात तब प्रकटरूप से विदित होती है, कि जब आवरण विकार इसके ढाकने वाले ये सब दूर हो जाते हैं तब विदित होता है कि इस आत्मा का सहजस्वरूप यह है । यह बात हमें सिद्ध भगवान के स्वरूप की उपासना से सुविदित हो जाती है । प्रभु में समीचीनता है । कोई मल नहीं है । शुद्ध हैं । अपने आप में लवलीन हैं । किसी भी प्रकार का विकार नहीं है । क्योंकि उनके मोहनीयकर्म का अभाव हो चुका है । प्रत्येक वस्तु में अपने आपकी ओर से कोई विकार नहीं होता, कोई दोष नदी होता । वह जैसा है तैसा ही है । विकार के मायने हैं कि जो उसमें बात स्वयं नहीं है वह बात आ जाय उसे विकार कहते हैं । अन्तराय क्रम के न होने से ऐसी अनन्त शक्ति प्रकट है जिससे परिपूर्ण विकास बना रहता है । प्रत्येक पदार्थ अपने आपके सहजस्वरूप में रहता है तो मैं भी हूँ, मेरा भी अपने आप कोई स्वरूप है अपने सहजस्वरूप का यह सिद्ध गुणस्तुति से सुगम विदित होता है ।

**ज्ञान की अबाध गति**—यद्यपि यह ज्ञानस्वभाव अनादिकाल से दबा हुआ है, इसका विकास नहीं हो पाया तो भी यह जो है सो ही है, दूसरा नही बन सकता । वस्तु का स्वरूप ही इसी भाँति का है । इस तरह की जो

अपने आपके भीतर दृष्टि ले जाता है वह स्वरूप का कुछ परिज्ञान करता है तो कर लेता है, उसको बीच में कुछ अटक नही आती । एक दृष्टि चाहिए, भीतर में उत्सुकता चाहिए । वह यत्न करने लगे तो जान लेगा । ज्ञान की ऐसी पैनी गति होती है । जैसे यहीं बैठे हुए आप कही अपना उपयोग ले जाये । जैसे उदाहरण में कुछ बात रख लो, तीर्थक्षेत्र की बात रख लो । किसी मूर्ति की ओर आपकी दृष्टि लग गयी तो देखिये रास्ते में कितने ही पहाड़, कितने ही जंगल पड़ते है, मंदिर के फाटक भी लगे हुए हैं, सबको पार करके यह ज्ञान उस मूर्ति के समक्ष पहुंच जाता है । घर का दृष्टांत इसलिए नही लो कि इस समय अच्छे वातावरण में आप लोग बैठे हुए हैं । हम आपका उपयोग आपके घर की ओर क्यों ले जाये? नहीं तो आपके घर तिजोरी के अन्दर कोई चीज गुप्त रखी हो और आप उसे यहाँ बैठे-बैठे ही जानना चाहें तो ये दीवाल, किवाड़, आदिक कोई आपके ज्ञान को रोक नहीं सकते । किवाड़ उसे कहते हैं जो कि मायने किसी को भी बाड़ मायने रोक दे । जैसे कुत्ता, बिल्ली, बन्दर आदि सबको जो रोक दे उन्हें किवाड़ कहते हैं । पर ये किवाड़ इस ज्ञान को नहीं रोक पाते । आपकी तिजोरी के अन्दर कई पोटलियों के बीच कोई कीमती चीज धरी हो, उसे आप यहाँ बैठे ही बैठे अपने ज्ञान में ले-ले तो इसे कोई रोक नहीं सकता । ऐसे ही आप अपने आपके अन्दर की बात को जानना चाहें तो इसे कोई रोक सकता है क्या? ये रागादिक विकार, ये क्रोधादिक कषायें, ये भी इस ज्ञान को रोकेंगे नहीं । यह ज्ञान इन सब आवरणों को पार कर, रागादिक विकारों को पार कर सहजस्वरूप में जो एक ज्ञानस्वभाव है उसकी परख कर लेगा, जान लेगा । न जानता होता तो ये चर्चायें कहाँ से उठती? ज्ञानस्वभाव की जो चर्चायें की जाती है, जिनका कुछ भी किसी भी रूप में परिचय नही, उसकी ये चर्चायें ही यह साबित करती है कि इस ज्ञानस्वभाव को कोई जानना चाहे तो जान सकता है । इस समय भी इन रागादिक समस्त आवरणों से ढका हुआ होने पर भी हम आप अपने उस सहजपरमात्मतत्त्व को निरख सकते हैं ।

**आत्मा के सहजस्वरूप के विकास में सिद्ध परमेष्ठित्व**—आत्मा का स्वाधीन विकास, सहजस्वरूप जब सहज विकसित हो गया तो उसी को सिद्ध परमेष्ठी कहते हें । इस पर आज कितने मल कलंक लगे हैं उनके भेद प्रभेद करें तो कर ही नहीं सकते । संख्या से परे हैं, लेकिन मोटे रूप में बताया गया कि ८ प्रकार के आवरण हैं । कर्म साथ लगे हैं । देखिये अपनी ओर से अपने बारे में अपनी हीनता का ज्ञान करके ही कर्मों का ज्ञान किया जा सकता । आँखें पसारकर किसी इन्द्रिय को अभिमुख करके इन कर्मों को समझना चाहें तो नहीं समझ सकते । ये कर्म इस जीव पर लगे हैं इसलिए ज्ञान नहीं हो रहा, यह बात यद्यपि निमित्तनैमित्तिक दृष्टि से सही है, पर इस ढंग से हम पता यों नहीं पाड़ सकते कि कर्म का तो हमें सम्वेदन हो नहीं रहा । इस ज्ञान की कमी का, इस ज्ञान की विकृति का, इस ज्ञान की चंचलता का बोध है । स्वसम्वेदन के द्वारा हम यह परख करते हैं कि हम पर कितने आवरण छाये हुए हैं और कितने हट गये हैं? यह बात निमित्तनैमित्तिक विधि से सही है कि ज्ञानावरण कर्म का उदय होने से इसका ज्ञान ढका है, लेकिन

हमको या तो मूर्त पदार्थों का ज्ञान हो पायेगा या अमूर्त का । मूर्त पदार्थों का ज्ञान तो इन इन्द्रियों द्वारा होता है, पर अमूर्त पदार्थों का ज्ञान इन्द्रिय द्वारा नहीं होता । जो अमूर्त पदार्थ को जान सकेगा वह तो खुद को जान सकेगा, क्योंकि खुद-खुद है, खुद पर सब बातें बीतती हैं तो उसका सम्वेदन होता है । इसका ज्ञान किसे नहीं है? मुझे बड़ा कष्ट हो रहा है, मैं बड़ा दुःखी हूँ, ऐसा सभी लोग कहते हैं, पर हम यदि पूछें कि जरा बताओ तो सही कि वह दुःख किस जगह है? सिर में है कि छाती में कि हाथ पैर आदिक में? अरे किधर दुःख बतायें, कहीं दुःख नहीं बता सकते कि यहाँ दुःख है, न दुःख की मुद्रा बता सकते, पर दुःख का सम्वेदन चल रहा है । तो अमूर्त पदार्थों में हम स्पष्टतया कुछ समझ सकते हैं तो निज अमूर्त को समझ सकते हैं, पर अमूर्त को नहीं जान पाते और मूर्त को स्थूल को जानेंगे तो इन इन्द्रियों द्वारा जान जायेंगे । तो इन कर्मों को हम यों नहीं जान पा रहे हैं । इन्हें हम जानते हैं मुक्ति से, आगम से, अनुमान से, अविनाभाव से । यदि कोई हमारे इस ज्ञान पर आवरण न होता तो ये ज्ञान दर्शन न्यून न होते । यदि कोई कर्म न होता तो ये सुख दुःख आदिक की प्रवृत्तियाँ न होतीं और सहज पूर्ण विकास होता । आत्मा का पूर्णविकास ही सिद्धता है ।

**ज्ञानावरण व दर्शनावरण के अभाव में प्रभु की ज्ञानदर्शनसमग्रता**—किसी भी पदार्थ में कुछ विचित्र परिणतियां होती हैं तो किसी उपाधि निमित्त के सन्निधान होने पर ही हो सकती हैं । ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध होने पर भी जब हम निर्णय और स्पष्ट बोध के रास्ते से चलते हैं तो पहिले हम अपने को परखते हैं, अपनी परख के बाद हम युक्ति से उन कर्मों का ज्ञान करते हैं । यह एक ज्ञान करने की बात है । निमित्त नैमित्तिक की बात दूसरे प्रकरण की है । तो ज्ञानावरण कर्म है जिससे ज्ञान प्रकट नहीं हो पा रहा । जिनके ज्ञानावरण नष्ट है उन सिद्धों के, अरहंतों के वह अनन्तज्ञान प्रकट है । दर्शनावरण कर्म का उदय है इससे आत्मा का दर्शन नहीं हो पाता, सामान्य पूर्ण सहज प्रतिभास नही हो पाता और तब ये जीव स्वदर्शन किए बिना पर-आशा कर करके दुनिया में भटकते फिरते हैं । दर्शनावरणकर्म जिनके नष्ट हो गए उनके स्व प्रतिभास है । जाननहार निज की एक झाँकी ले लेना यह उनका दर्शन निरन्तर होता रहता है । दर्शन हम आपके चलता तो रहता है जिसके योग्यता है, लेकिन हम उस दर्शन की बात को बिल्कुल पकड़ नहीं पाते, क्योंकि धुन लगी है हमारी परपदार्थों में, विषयसाधनों में, जिसके कारण? हम दर्शनगुण से परिणमते हुए भी और कुछ भी एक प्रतिभास नही कर पाते । सामान्यरूप प्रतिभास को भी नही समझ पाते । जैसे किसी मनुष्य को किसी ने बताया कि यदि तुम धनी होना चाहते हो तो अमुक पर्वतपर जो बहुत से पत्थर पड़े हुए हैं उनमें कुछ पारस पत्थर भी हैं । तुम किसी पारस पत्थर को वहाँ से ले आवो और फिर मनमाना जितना चाहे लोहा से सोना बना लो । वह पुरुष पहुंचा उस पर्वत पर और दो चार गाड़ी पत्थर समुद्र के किनारे लाकर इकट्ठा किया । समुद्र के किनारे ही एक लोहे का मोटा डंडा गाड़ दिया । अब उसने एक पत्थर उठाया । लोहे के डंडे में मारा, देखा कि लोहा स्वर्ण नहीं बना तो उस पत्थर को समुद्र को फेंक दिया । यों ही क्रम-क्रम से वह एक-एक पत्थर उठाये,

लोहे के डंडे पर मारकर देखे और उसे समुद्र में फेंक दे । अब पत्थर तो बहुत से थे, सो उसकी एक धुनसी बन गयी, पत्थर उठाये, मारे और फेंक दे । अब वह काम इतना जल्दी-जल्दी होने लगा कि बस उठाये, मारे और फेंके । इसी बीच उन सारे पत्थरों में जो एक पारस पत्थर था वह भी उठाया, मारा और फेंका । अब वह बाद में देखता है कि लोहा तो स्वर्ण बन गया, पर वह पारसपत्थर समुद्र में फैंक देने से वह बड़ा पछतावा करता है । हाय ! बड़ा श्रम करने पर पारसपत्थर हाथ में भी आया पर उसे व्यर्थ ही समुद्र में फेंक दिया । इसी तरह से हम आप परपदार्थों की ओर तो बड़ा आकर्षण लगाये हुए हैं और इसी धुन में इस अमूल्य नरजीवन को व्यर्थ ही खोये जा रहे हैं । आखिर इसके फल में पछतावा ही हाथ लगेगा । तो प्रभु के दर्शनगुण प्रकट हुआ है ।

**वेदनीय आदि अघातिया कर्मों के नाश से अव्यावाधादि गुणों की व्यक्ति**—वेदनीय कर्म उनके नहीं है, अत: अव्यावाध गुण उनमें प्रकट हुआ है । उनको किसी तरह की बाधा नहीं है। जैसे सुख दुःख की बाधायें हम आपमें हैं वैसी बाधायें उनमें नहीं हैं । आजकल तो आप सबके घर में प्राय: सुख साधन मौजूद हैं, लेकिन कल्पनायें करके जो दुःख बनाये जा रहे हैं उनकी तो कोई सीमा नहीं है । जैसे कोई बालक आज्ञा नहीं मानता तो लो आप दुःखी हो गए । अरे उस बालक ने आपको डंडा मारा क्या, या आप से कुछ छीन लिया क्या, जो आप उसके पीछे दुःखी हो गए? दुःख तो आप लोग व्यर्थ के बना लेते हैं । नहीं तो आप सबके घर पेट भरने के लिए अन्न, तन ढाकने के लिए वस्त्र वगैरा हैं ही । तो सुख साधन हैं आप सबके पास, फिर भी तृष्णा होने के कारण बराबर दुःखों का अनुभव किया जा रहा है । और इन बाह्यपदार्थों की धुन में ही धर्मपालन का यह शुभ अवसर व्यर्थ ही खोया जा रहा है । आत्मदर्शन, ज्ञानानुभव आदिक काम जो आज तक हम आप कभी नहीं कर पाये उनके करने के लिए यह मनुष्यभव हम आपको मिला हुआ है, ऐसा समझना चाहिए । तो इन करने योग्य कार्यों को तो हम करें नहीं और विकल्प- जालों में पड़े रहें । परिजन, मित्रजन, इज्जत, लोक, देश, राष्ट्र आदिक के पीछे ही यदि विकल्प मचाते रहे तो समझो कि बड़ी मुश्किल से तिरने के लिए पाया हुआ यह मानवजीवन व्यर्थ ही खोया जा रहा है । यहाँ के ये इन्द्रियजन्य सुख भी एक दृष्टि से देखो तो दुःखरूप हैं । ये सब कर्माधीन हैं । उदय अनुकूल हुआ तो सुख मिला, मिल भी जाये सुख तो वह थोड़े समय में ही खतम हो जाता है । धनिक लोग इसी बात से तो हार गए । यदि वे इस धन को अपने साथ ले जा सकते होते तो उसमें भी वे कसर न रखते, पर इस पर वश नहीं चलता । उसे भी छोड़कर जाना पड़ता है, तो ये इन्द्रियजन्य सुख होते हैं और शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं । जैसे किसी ने किसी को कोई अपनी कीमती चीज धरने को दिया तो वह उस चीज को भाररूप मानता है, क्योंकि वह जानता है कि यह चीज मेरे पास रहनी तो है नहीं इसी तरह ज्ञानी पुरुष इन सुखों को भाररूप मानता है, क्योंकि ये सुख विनाशीक हैं और फिर जितनी देर को ये सुख होते हैं उतनी देर को सुख ही सुख रहे, ऐसा किसी के होता नहीं, उस बीच भी अनेक बार दुःख ही दुःख की बातें आती रहती हैं । खूब एक सूक्ष्म निगरानी करके

देख लो—पुत्र का विवाह हो रहा है तो वहाँ उस बाप को कहाँ आराम है? इधर जाना, उधर जाना, यह करना, वह करना कोई रिश्तेदार रूठ गया उसे मानना आदि, यों उस बाप को उस विवाह के प्रसंग में कहाँ सुख मिल पाता है? वह तो उस प्रसंग में बीच-बीच में बड़ा आकुलित होता रहता है । यों ही भोजन के सुख की बात है । भोजन करते हुए में उस भोजन करने वाले को कहाँ चैन है? अभी एक कौर मुख में चाबे हुए हैं, उसे निगल भी नहीं पाये कि दूसरा कौर और तोड़ने की पड़ती है । वह दूसरा कौर मुख में धर लिया, उसे चाब कर निगलना तो दूर रहा, तीसरा कौर फिर तोड़कर मुख में धर लेते हैं । तो उस भोजन करने के प्रसंग में भी उसे कितना क्षोभ करना पड़ता है? अत: उसे उस प्रसंग में भी सुख कहाँ है? तो वस्तुत: समस्त इन्द्रियसुख दुःखरूप हैं और साथ ही ये पाप के भी कारण हैं । ऐसे सुख की क्या चाह करना? ये समस्त इन्द्रिय सुख दुःख भगवान के दूर हो गए, सो उनके अनन्त आनन्द प्रकट हुआ । अब देखिये—एक माहि एक राजे एक माहि अनेकनो । सिद्धप्रभु के आयुकर्म नहीं रहा, सो उनमें अवगाहन गुण प्रकट हो गया । सूक्ष्मत्व गुण प्रकट हो गया, नामकर्म न रहा, गोत्रकर्म नहीं रहा, ऊँच-नीच का कोई व्यवहार न रहा । पूर्ण शुद्ध एक रूप है । अपने स्वरूप के भोगने में, अपने स्वरूप के अनुभवने में उन्हें कोई बाधा ही नहीं हो रही । यों अष्टकर्मों से रहित होने के कारण अष्टगुणों से युक्त सिद्ध भगवन्तों को मैं नमस्कार करता हूँ ।

**आत्मा की निकृष्ट अवस्था निगोद**—समस्त आत्माओं में सर्वोत्कृष्ट आत्मा सिद्ध भगवान हैं, जो औपचारिक मल से भी दूर हैं । यहाँ आत्मा की सर्वोत्कृष्ट अवस्था की चर्चा चल रही है । जीव की सबसे निकृष्ट अवस्था है निगोद और सबसे उत्कृष्ट अवस्था है सिद्ध । जितने भी सिद्ध कहलाये हैं वे सब भी पहिले निगोद अवस्था में थे । निगोद में एक बार नाड़ी चलने में जितना समय लगता है उतने में १८ बार जन्ममरण निगोद जीव का होता है, जिसका हिसाब सेकेण्ड में २३ बार जन्म-मरण होना है । केवल एक स्पर्शनइन्द्रिय है । ये निगोद कुछ तो होते हैं हरी आदि के आश्रित और कुछ होते हैं अनाश्रित आलू, गाजर, मूली आदिक वनस्पतियों में निगोद जीव अनन्त रहते हैं । और यहाँ सर्वत्र जहाँ भी यह लोकाकाश है सब जगह सूक्ष्म जीव रहते हैं । निगोद से निकलना बहुत कठिन बात है, क्योंकि वहाँ पुरुषार्थ की प्रधानता नहीं है, कोई चिन्तन नहीं । ज्ञान केवल एक स्पर्शनइन्द्रिय का है, सो पृथ्वी जल आदिक एकेन्द्रिय से भी कम है । कुछ उनकी पात्रता की सीमा में कोई भाव बनता है तब निगोद से निकलकर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और प्रत्येक वनस्पति में आ सकते हैं । निगोदिया जीव निगोद से निकलकर पञ्चेन्द्रिय भी हो सकते, मनुष्य भी हो सकते, पर ऐसा बिरले जीव के ही होता है । पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और प्रत्येक वनस्पति—ये ५ प्रकार के स्थावर निगोद जाति के स्थावर से कुछ विशेष तरक्की पर हैं ।

**उत्तरोत्तर आत्मविकास होते-होते अन्तिम विकास दशा में सिद्ध परमेष्ठित्व**—फिर पृथ्वी जल अग्नि वायु प्रत्येक वनस्पति से निकलकर दोइन्द्रिय होना बहुत कठिन बात है । इसमें रसनाइन्द्रिय और हो गयी । स्पर्शनइन्द्रिय और रसनाइन्द्रिय—इन दो इन्द्रियों के द्वारा उनका ज्ञान अब चलने लगा, अंगोपांग भी प्रकट होने लगे ।

दोइन्द्रिय से तीनइन्द्रिय होना कठिन है । वहाँ एक इन्द्रिय और बढ़ी । घ्राणइन्द्रिय का भी ज्ञान होने लगा और उनके अब पैर निकल आये, पर पैर बहुत निकले । तीनइन्द्रिय के चार पैर से अधिक तो होते ही हैं—चाहे ६ पैर हों, चाहे ८, १०, २० आदि कितने ही हों । तीनइन्द्रिय से निकलकर चारइन्द्रिय होना कठिन है । इसमें उड़ने वाले जानवर मक्खी, मच्छर, टिड्डी आते हैं । प्राय: दो पैर से अधिक वाले ये जीव हैं । वहाँ से निकलकर पंचेन्द्रिय होना कठिन है । पंचेन्द्रिय में पशु हुए, पक्षी हुए, नारकी हुए, कुमानुष हुए, खोटे देव हुए, तो उनमें कुछ धर्म साधन की बात का प्रसंग नहीं होता । संज्ञी होने के नाते सम्यक्त्व तो उत्पन्न कर लेंगे, पर बिरले ही जीव । अब उन सब पंचेन्द्रियों में से मनुष्य हुए । देश, जाति, कुल आदिक ठीक मिले, बुद्धि अच्छी मिली, जैनशासन का समागम मिला जहाँ कि पवित्र धर्मपालन की एक परम्परा चली आ रही है । इस जैनशासन की महिमा का तो कोई वर्णन ही नहीं कर सकता । इस जैनशासन का शरण लेने से हम आपका उद्धार हो सकता है । जिसमें वास्तविक ढंग से वस्तु का स्वरूप बताया है । जैन शासन में धर्म के सम्बन्ध में यह बताया है किं जिस वस्तु का जो स्वभाव है वह उसका धर्म है । कितनी निष्पक्षता की बात है? आत्मा का जो स्वभाव है वह आत्मा का धर्म है और जहां आत्मा का स्वभाव पूर्ण शुद्ध प्रकट हो गया है वह है भगवान । कितना निर्दोष निष्पक्ष वर्णन है? स्वरूप की प्रधानता है, नाम का कोई पक्ष नहीं । भले ही कोई नामधारी भगवान बना हो तो अब बिचार से नाम ले लेकर उनकी उपासना करे, लेकिन भगवान के स्वरूप का जब चिन्तन करें तो वहाँ नाम की प्रतिष्ठा नही है । जो शुद्ध हुए वे भगवान हैं और जो शुद्ध होने के प्रयास में लगे हुए हैं वे हमारे गुरु हैं । इसमें सब आत्मा के नाते से ही वर्णन है । विकास होते-होते जहाँ आत्मा का पूर्णविकास हो जाता है वहीं सिद्धता है ।

**परनिवृत्त होकर स्वरत होने के पौरुष में ही प्राप्त सुयोग की सफलता**—संसार में जन्म मरण करते हुए हम आप आज मनुष्य पर्याय में आये है । यहाँ से भी मरण करना होगा और किस-किस जगह जन्म होता है वह संसार के जीवों को देख करके परख कर सकते हैं । तो इस असार संसार में हम आप अकेले ही हैं । यहाँ माता, पिता, स्त्री, पुत्र, मित्रादिक किसका विश्वास करें? भले हैं सब और सीमा में विश्वास करने योग्य हैं, लेकिन वे क्या हमें इस जन्ममरण के दुःख से बचाने में कुछ अपना योगदान दे सकेंगे? सब कुछ अपने को अकेले ही करना है । जिस किसी भी प्रकार अपने आपके सहजस्वरूप पर दृष्टि पहुंचे तो यह समझ ले कि अब हमने अपने जीवन को सफल किया और एक अपने आपके सहजस्वरूप का ज्ञान न हो सका तो चाहे कितनी ही लौकिक शिक्षायें व लौकिक पद प्राप्त कर लें पर वे सब व्यर्थ हैं । उन स्थितियों में भी सुख नहीं और फिर उन सुखों का किया क्या जाय? अपने आत्मस्वभाव की दृष्टि जिस प्रकार बने, सो कर लें । यह बात केवल बूढ़े लोग ही कर सकें अथवा जवान ही कर सके, ऐसी बात नहीं है । यह बात एक आठ वर्ष के बच्चे से लेकर सभी लोग कर सकते हैं । सबको अधिकार है कि अपने आपके आत्मस्वरूप का वे ज्ञान कर सकें, उसका अनुभव कर सकें । यह बात करने की है, और बातें जौ करने को पड़ी हुई हैं उन्हें पड़ी रहने

दो या प्रयोजनवश उन्हें निपटा लो । वे किये जाने योग्य कार्य नहीं हैं । जैसे पुरुषों का लेन-देन व्यापार आदि का कार्य व महिलाओं का खाना बनाने व बर्तन मलने आदि का कार्य । अरे ये सब तो बाहरी बातें हैं, ये कोई सारभूत कार्य नहीं हैं । अपने करने का मुख्य काम है अपने आपके स्वरूप का अनुभवन करना, सम्यक्त्व की प्राप्ति, सम्यग्ज्ञान का लाभ—यही एक मात्र कर्तव्य हे, इसी में ही विवेक है, इसी में ही अपने आपकी चतुराई है । अरे यहाँ के समस्त प्राप्त समागम किसी दिन छूट जाने हैं । यदि आपको ये लौकिक सुख साधन कम प्राप्त होते हैं तो कोई बात नहीं, इसमें घबड़ाने की कोई जरूरत नहीं, बाहर में जहाँ जो कुछ भी परिणमन हो रहा हो, होने दो । बाह्यपदार्थ कभी मेरे हो नहीं सकते, वे मेरे से अत्यन्त पृथक् हैं ।

**निर्लेपवृत्ति में निर्लेपता का अभ्युदय**—पर से विविक्तता की दृष्टि जिन जीवों ने प्राप्त की और फिर इस ही आत्मस्वरूप में लीन हुए, उसकी ही जिनकी धुन बनी, वे ही पुरुष अपने को अकिञ्चन अनुभव करते हैं । सर्वपरिग्रहों से वे हटकर निर्ग्रंथ अवस्था को धारण करते हैं । निर्ग्रन्थ अवस्था के मायने हैं कि जहां अब कोई काम नहीं, कोई झंझट नहीं, कोई विकल्प नहीं । केवल एक आत्मस्वरूप का ध्यान करना, आत्मस्वरूप को निरखकर उसके निकट रहकर तृप्त बने रहना, यह ही मात्र उनका काम है, ऐसी स्थिति जिनकी होती है उनका बाह्य में स्वरूप निर्ग्रन्थ दिगम्बर का होता है । लेकिन भीतर में अनित्व होता है, यह आत्मा को लाभ देगा । हुए वे जीव निर्ग्रन्थ मुनि और बराबर अप्रमत्त अवस्था का, निराकुल निर्विकल्प स्थिति का स्वाद लेते जाते है, और इस स्वाद लेने की वजह से जब कभी उनकी निर्विकल्प भाव में स्थिति देर तक ठहरती है तो उनमें एक अपूर्व विशुद्धि प्राप्त होती है । ८वें ९वें १०वें गुणस्थान में पहुंचकर वहाँ सर्व कषायों का अंत में विनाश कर १२वें गुणस्थान में क्षीणमोह हो जाता है । अब कषायें रंचमात्र भी नही हैं ईर्यापथ आस्रव है, साता वेदनीयकर्म आते हैं और चले जाते है, वे भी बंध को प्राप्त नहीं होते । तब उस निर्विकल्प परमसमाधि दशा में ऐसा अन्तर्बल बढ़ता है कि चार घातियाकर्म अन्त में नष्ट होते हं और वे अयोगकेवली गुणस्थान पाकर सर्वज्ञ हो गए, अरहंत हो गए । पुन: ४ अघातियाकर्म नष्ट होने से वे सिद्ध भगवान होते हैं ।

**अन्तस्तत्त्व की चर्चा व महिमा**—उक्त विवरण से यह निश्चय करना कि यों निकृष्ट निगोद अवस्था से निकलकर सर्वोत्कृष्ट सिद्ध अवस्था में यह जीव पहुंचता है । यह चर्चा सिद्ध की, की जा रही है, ऐसा ही मात्र न समझें, यह अपनी चर्चा है, अपने स्वरूप की चर्चा है । एक हिम्मत बना कर जो निज को निज व पर को पर जान ले, ज्ञानमात्र अमूर्त निर्लेप अपने स्वरूप को पहिचान ले तो फिर वहाँ रागद्वेष मोहादिक का क्या काम? यों अकिञ्चन ज्ञानमात्र अपने आपकी प्रतीत कर ले । मैं और कुछ नहीं हूं—यदि यह बात सही हो तो ऐसी दृढ़ प्रतीति कर लो, निर्णय कर लो कि यह बात सही है कि नहीं । मुझ आत्मा का है क्या कोई यहाँ? ये नाते रिश्ते इस आत्मा के कुछ हैं क्या? अरे इस मुझ आत्मा को पहिचानने वाला भी कोई नहीं है । यदि यह खुद भला है तो रिश्तेदार भी भले हैं और यदि खुद ही भला न रह सका, खुदे दोषवान हुआ, उद्दण्ड प्रकृति का हुआ तो वे सारे नाते रिश्तेदार भी उससे किनारा कर जायेंगे । तो यहाँ भी जो कुछ दूसरे लोग

सम्बन्ध रखते हैं, कुछ हमारी सुख शान्ति के भाव रखते हैं, सो हम ही जब खुद अच्छे रह सकेंगे तो दूसरे भी पूछेंगे और अगर खुद अच्छे न रह सके तो दूसरा कोई पूछने वाला नहीं है । सब कुछ अपने आपके ही बल पर निर्भर है अपना भविष्य । सिद्ध भगवन्त में और बात ही क्या हुई? जो निजी सहज खुद को बात है बस वही रह गयी, इसी के मायने शुद्ध दशा है । अपने आत्मा की प्राप्ति हुई । जो परतत्त्व हैं, परद्रव्य हैं उनका सम्बन्ध दूर हो गया, केवल रह गये । कहीं वे भगवान कोई अभावरूप नहीं हो गए । कुछ न रहे— उसका नाम भगवान है, ऐसी बात नहीं है, किन्तु पूर्ण अंतस्तत्त्व का जो विकास है उसके मायने भगवान हैं ।

**सिद्ध भगवंत की लोकशिखरस्थता**—अब ये सिद्धप्रभु लोक के अन्त में अपने जिस देह से मुक्त हुए उस देह प्रमाण वहाँ विराजे हैं । जीव जब कर्मों से मुक्त हो जाता है, शरीर से भी छूट जाता है तब ऊर्ध्वगमन स्वभाव के कारण ऊपर ही जाता है । इस जीव ने, इस साधु ने अनेक बार लोक के अन्त में विराजमान सिद्धभगवान का ध्यान किया । वहाँ इसका उपयोग बहुत बहुत बसा तो मानो अब कर्म नष्ट होने पर इस ही पूर्व प्रयोग सौ यह आत्मा लोक के अन्त में पहुंचता है अथवा जब तक इस पर परिग्रह था, जैसे कि तूमी में कीचड़ भर दिया जाय और पानी में डाल दी जाय तो कीचड़ के भार से वह तूमी पानी में नीचे बैठ जाती है, पर तूमी का कीचड़ ज्यों-ज्यों घुलता जाता है त्यों-त्यों तूमी ऊपर उठती जाती है, और कीचड़ पूर्ण धुल जानें पर वह पानी के ऊपर आ जाती है । इसी प्रकार कर्मों का कीचड़ इस जीव के साथ लगा हुआ है, सो यह जीव नीचे बस रहा है, पर जब इसके कर्म कलंक पूर्णरूपेण धुल आते हैं तो यह जीव स्वभावत: ऊर्द्धगमन करता है । और ऊर्द्धगमन के स्वभाव से चलकर लोक के अन्त में विराजमान होता है । इस भगवान को नमस्कार करने की जो लोगों की पद्धति है वह भी यह साबित करती है कि प्रभु सिद्ध भगवान लोक के अन्त में विराजमान हैं । जब कोई प्रभु से प्रार्थना करता है तो जमीन में नीचे दृष्टि गड़ाकर थोड़े ही करता है । वह तो अपनी दृष्टि ऊपर उठाकर हाथ जोड़कर प्रभु का स्मरण करता है । हे प्रभो ! तुम ही शरण हो । तो लोगों की प्रभुस्मरण की यह पद्धति भी यह बतलाती है कि प्रभु, उत्कृष्ट आत्मा लोक के अन्त में विराजमान हैं ।

**सिद्धभगवंतों की चरमदेहाकारता**—ये प्रभु सिद्धभगवंत होने पर इस देह के आकार ही क्यों रह जाते हैं? इस सम्बंध में कुछ लोग यह सोच- सकते हैं कि देह के कारण आत्मा फैला था, यह देह न रहा तो आत्मा बटबीज की तरह बहुत छोटा हो जाता होगा । जैसे दीवाल न रहे तो दीपक का प्रकाश फैलने की ओर ही अग्रसर रहता है, यों ही यह आत्मा इस देह दीवाल के न रहने पर फैलने की ओर ही अग्रसर रहता है । यों यह आत्मा एकदम सर्वव्यापक हो जाता होगा, । तो, यह समझिये कि अब तक जो आत्मा देह में रहता है, देह प्रमाण रहता है उसका कारण क्या है? कर्मोदय । जब तक कर्म साथ हैं तब तक देहप्रमाणता बनी है, और जब कर्म न रहे तब बतलावो यह बढ़े कैसे और घटे कैसे? फिर तो जिस देह से मुक्ति होती उस देह प्रमाण ही वह आत्मा रहेगा । ऐसो पावन उत्कृष्ट वन्दनीय अवस्था उनकी उनके उपादान से सिद्ध है । यहाँ

वहाँ की चीज लाकर लपेटकर वह सिद्ध अवस्था नहीं बनती है, किन्तु जिन आत्माओं ने अपने आपके स्वभाव पर दृष्टि दी, शुद्ध उपादेय का आलम्बन लिया, सहजस्वरूप का आश्रय किया उनके इस पावन उपयोग के प्रताप से सिद्ध दशा प्राप्त हुई ।

**परविविक्तता में परमानन्दमयता**—कुछ लोग उद्दण्डतावश या शंका वश यह तर्क करने लगते हैं कि जब देह भी छूट गया, कर्म भी छूट गए, सब कुछ छूट गया तो वे सुखी कैसे होते होंगे? यहाँ तो हमारे लड़के बच्चे है, स्त्री है, सुख के अनेक साधन हैं, हम तो यहाँ सुखी हैं । लेकिन यह देखिये कि आत्मा का स्वरूप ज्ञान और आनन्द है । यह दृश्य समागम तो यहाँ आपका अभी भी छूटा हुआ है । दूसरों से मोह किया उनके पीछे रुले मरे । खुद का क्या किया सो सुध भी भूले । कितना बड़ा अंधकार हे जिससे यह जीव सुख मानता है । बच्चे लोग कुछ पैसे या कोई वस्तु पाने के लिए अपने माँ बाप से रूठ जाते हैं, लेकिन उन्हें यह पता नहीं कि इस तरह से रूठ कर हम कोई चीज उनसे नहीं पा सकते । जैसे वे बच्चे अपने माँ बाप की आज्ञा में थोड़ा चलने लगें, थोड़ा विनय का व्यवहार करने लगे तो वे माँ बाप तो उनके पीछे मर मिटेंगे, बड़े सुखी रखने को बात सोचेंगे, उन बच्चों की सेवा करने के लिए सदा कमर कसे रहेंगे ।

लोग रागद्वेष मोहादि के वश होकर अपने आपके जीवन को बरबाद करते हैं और दूसरे को आराम मिले, ऐसा भाव बनाकर अपने को सुखी मानते हैं, लेकिन ये सब झंझट हैं । इन समस्त झंझटों का मूल कारण हैं शरीर से सम्बन्ध । जब सर्वज्ञ हो गए, केवल आत्मा रह गया तो अनन्तकाल के लिए समस्त दुःख मिट गए । कहाँ वेदना, कहाँ भूख, कहाँ राग, कहाँ वियोग, कहाँ संयोग? वह तो विशुद्ध आत्मा है । परिपूर्ण ज्ञानानन्द का स्वामी है । एक स्वाधीन आनन्द है, यही दशा प्रकट करना है और कोई काम करने को नही पड़ा है । जैसे लोग सोचते हैं कि अब यह करना है, अब वह करना है ऐसे ही महिलायें भी सोचती हैं कि अब मुझे यह करना है, वह करना है, तो भाई ये कोई काम किये जाने योग्य नहीं है । काम तो एक यही किये जाने योग्य है कि अपने आपको पहिचान ले कि यह मैं सबसे निराला केवल ज्ञानमात्र हूँ । यदि यह काम न कर सके तो कुछ न बनेगा ।

**निज ज्ञानान्दस्वरूप की सम्हाल बिना जीवन की व्यर्थता**—एक गाँव में हफ्ते में एक दिन हाट लगती थी । तो एक बूढ़ा आदमी सब्जी खरीदने उस हाट में जाने लगा तो पड़ौस की कई स्त्रियां आयीं और बोली—बब्बा जी ! हमारे लिए भी सब्जी खरीद लाना । यों १०-२० बहूओं ने पैसे दे दिये और सब्जी लाने को कहा । जब वह बूढ़ा आदमी हाट पहुंचा तो पहिले अपने पड़ौस की बहूओं के लिए सब्जी खरीद ली और बाद में जो रही सही सब्जी बच रही उसे अपने लिए खरीद लिया । जब सबकी सब्जी खरीदकर वह घर आया तो सबकी सब्जी सबके घर भिजवा दिया और अपनी सब्जी अपने घर रख लिया । अपने घर की रही सही सब्जी देखकर उस बुड्ढे की बहू ने बुड्ढे को भला बुरा कहा । तो वह बुड्ढा बोला—देखो मैंने बड़ा उपकार किया । पहिले अच्छी-अच्छी सब्जी पड़ौस की सब बहूओं के लिए खरीद लिया, बाद में जो रही सही बची

हुई सब्जी थी उसे मैंने अपने लिए खरीद लिया । तो बहू बोली—पहिले अपने लिए तुम्हें अच्छी-अच्छी सब्जी खरीद लेनी थी, बाद में पड़ौस की बहुवों के लिए खरीदते । तो यों ही समझिये कि सबके काम तो खूब आये, पर अपने काम कुछ न आये । यदि अपना ज्ञान न बना सके तो क्या किया? तो आत्मा के स्वभाव को निरखें, उसका आलम्बन, उसका आश्रय लें तो समझिये कि हम अपने लिए भी कुछ कर रहे हैं, अन्यथा बेकार जीवन है ।

**सिद्धप्रभु की निष्ठितकार्यता**—जीवों में सबसे उत्कृष्ट जीव सिद्धभगवान हैं, क्योंकि वे निष्ठित कार्य हैं अर्थात् जो करने योग्य काम है वह पूर्णतया वे कर चुके हैं । संसार में करने योग्य काम क्या है? सब कामों में दृष्टि देकर उत्तर दो । दूकान के, घर के, व्यापार के, राग द्वेष मोहादिक के, इन सबमें कौनसा ऐसा काम है जो जीव का भला कर सकने वाला हो? शरीर के नाते से, शरीर के सम्बन्ध से तो जो भी कार्य हैं वे सब जीव के अकल्याण के कारण हैं । करने योग्य काम तो केवल यह है कि देह देवालय में विराजमान जो यह मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ सो इसका सही स्वरूप जानूं और वैसा ही स्वरूप जानते रहने में लगा रहूं । सिवाय इसके और कोई काम लोक में श्रेष्ठ नहीं है । कभी धन बढ़ गया तो क्या, घट गया तो क्या? वह तो मेरा स्वरूप नहीं, उससे तो मेरा सम्बन्ध ही नहीं । मुझे ये दुःख सुख धन घटने-बढ़ने से नहीं होता । उपयोग के बदलने में, उपयोग के उस प्रकार बनाने में सुख-दुःख होते हें । बाहर में कुछ भी बात बीतती रहे, उससे जीव को कष्ट की कोई बात ही नहीं है । यह जीव अज्ञान में आता है और कष्ट मानता है । एक इस शरीर को मानकर कि यह मैं हूँ, चिंतायें बसा ली जाती हैं । लोक में मेरी इज्जत बढ़े; ऊँचे-ऊँचें पदों पर पहुंचें, लोग मुझे बड़ा समझे, ये सब कल्पनायें आत्मा को निरखकर तो नहीं होती, शरीर को ही आत्मा मानकर होती हैं । कोई पुरुष यदि सहज ज्ञानस्वरूप अपने आपको मानता हो कि यह मैं हूँ, उसकी यह भावना न बनेगी कि मैं इस दुनिया में बड़ा कहलाऊँ, जो शरीर को मानता हो कि यह मैं जीव हूँ उसमें ही यह भावना बनेगी कि मैं लोक में अच्छा कहलाऊँ । मनुष्यों में मानकषाय की ही तो प्रबलता बतायी गयी है । लोभ इतना प्रबल नहीं है जितना कि मनुष्यों में मान प्रबल है । मान के ही कारण लोग धन जोड़ना चाहते, क्योंकि धन से ही लोक में बड़प्पन आजकल मिलता है । मान के ही कारण लोग सारे ठाट-बाट बनाते हैं । और की तो बात जाने दो । मान के ही कारण अनेक लोग मंदिर में आते, धर्मसाधना करते लोगों में बैठें ताकि लोग समझे तो सही कि यह भी धर्मात्मा हैं, यह भी ज्ञानी हैं । मान के ही कारण सब कुछ छोड़कर तपस्वी भी बन जाते । और यहाँ तक कि लोग अपने प्राण भी त्याग देते हैं, पर मूल में यही बात रहती है कि मेरा मान हो । यह बात किसके रहती है? जो अज्ञानी जीव है, जिसने देह और जीव को एक मान रखा है, किन्तु जिसने आकाशवत् निर्लेप अमूर्त ज्ञानमात्र अपने आपको सही समझ लिया उसके ये सांसारिक भावनायें उत्पन्न नहीं हो सकतीं । गृहस्थी में जब तक हैं तब तक कुछ जरूरत भी है यश की, धन की, इतने पर भी प्रतीति में यही बात रहती है ज्ञानी के कि ये सब बेकार बातें हैं । करने योग्य कार्य तो अपने आत्मा के

स्वरूप का ज्ञान करना और उसमें ही तृप्त रहना है । सिद्ध भगवान ने यही कार्य कर लिया है, अतएव वे सर्वोत्कृष्ट आत्मा है।

**सिद्धधाम**—ये सिद्ध भगवान विराजे कहां हैं? वे विराजे हैं लोक के अन्त में । जिसके नीचे ८ वीं पृथ्वी है, सिद्धशिला एक कायम है और ऐसी पृथ्वियां नीचे ७ हैं और ऊपर है वह एक सिद्धशिला । इस पृथ्वी से अतिरिक्त पृथ्वी नहीं है । स्वर्गो में जो विमान हैं वह पृथ्वी नहीं हैं । चन्द्र सूर्य तारे ये पृथ्वी नहीं हैं । पृथ्वियां ८ ही हैं । ७ तो नीचे हैं और एक सिद्धशिला है, जिसके बहुत ऊपर सिद्ध भगवान विराजे हैं । सिद्धशिला पर सिद्ध नहीं बैठे, उससे तो बहुत ऊपर हैं । लेकिन सिद्धशिला और सिद्ध भगवान इनके बीच में न देव की रचना है न अन्य कुछ रचना है, इस कारण उसे सिद्धशिला कहते हैं ।

**सिद्धयता**—जितने भी सिद्ध होते हैं वे तीर्थंकर ही होते हैं, ऐसा नहीं है । तीर्थंकर भी सिद्ध होते और अन्य पदवीधारी बलभद्र चक्रवर्ती आदिक भी मुक्त होते और जो पदवीधर नहीं हैं ऐसे भी अनन्त मुनि मुक्त हुए हैं । चित्त जिनका स्वच्छ है, उपयोग जिनका सही है, जो तृप्ति और सन्तोष सच्चा पा सके, ऐसा ज्ञान उन्ही के है जिनके चित्त में सिद्ध भगवन्त की उत्कृष्टता बसी हुई है । एक यह ध्येय बनाना चाहिए इस ओर दृष्टि रहनी चाहिए कि भगवान सिद्ध ही एक सर्वोत्कृष्ट जीव हैं और वे हुए कहां से? यह ही आत्मा जब सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रत्नत्रय की आराधना करता है तब कर्ममल दूर होते हैं, देहरहित होते हैं, सिद्ध भगवन्त हो जाते हैं । अपने आपके सम्बन्ध में भी ऐसा ही सोचे, मैं हूँ ना ज्ञानमात्र । तो जैसा मैं हूँ तैसा अपने को जानें तो क्या जान न सकेंगे? पर की ओर दृष्टि रखकर पर को जानते हैं तो अपने आपकी ओर अभिमुख होकर क्या अपने आपको नहीं जान सकते? जान सकते । और जहां अपने आपको समझा कि उसकी सारी आकुलतायें दूर हो जाती हैं । दुनिया में आकुलतायें किन्हें कहते हैं? परपदार्थों में संयोग वियोग का कल्पित अनुकूल प्रतिकूल परिणमनों का परिणमन हो तो उसे निरखकर यह जीव अपने आप में कष्ट मानता है । क्यों कष्ट मानता? कष्ट की तो बात जरा भी नहीं है । अपने आपको निरखें, सबसे निराला देह से भी निराला ज्ञानमात्र यह मैं आत्मा हूँ और ऐसा ही अपने उपयोग में बनाये रहें केवल ज्ञानस्वरूप, बस संकट कटे, आनन्द मिला, कर्म दूर हुए ।

**अज्ञानियों की कुबुद्धि का परिणाम**—अहो अज्ञानी जीव तो बाहरी बातों में अपने को कृतार्थ समझते हैं । दुनियावी कोई ऊंचा पद पा लिया, धन वैभव बढ़ा लिया तो उससे अपने को कृतार्थ समझ लेते, किन्तु ये सब स्वप्न की तरह व्यर्थ की बातें हैं । जैसे स्वप्न आता है दो चार मिनट को तो वहाँ जो दिखता है वह बिल्कुल सत्य प्रतीत होता है, लेकिन निद्रा भंग होना पर विदित होता है कि है कुछ नहीं, इसी प्रकार मोह की नींद में जो कुछ मिला, जो दिखता वह सब भी सत्य प्रतीत होता है, लेकिन सत्य नहीं है झूठ है, यह कब जाना जायगा? जब नींद खुल जाय अर्थात् मोहनिद्रा भंग हो जाय । जब तक मोह की नींद का स्वप्न

चल रहा है तब तक यह सब सत्य विदित होता है । जैसे—तीर्थयात्रा कर रहे हों, जंगल में जा रहे हों, किसी उपद्रव में घिर गए हो या हीरा रत्न जवाहरात मिल गये हों स्वप्न में तो वह स्वप्न देखने वाला झूठ तो नहीं मानता, लेकिन जब नींद खुल जाती है तब पता पड़ता है कि ओह ! यहाँ तो कुछ भी नहीं है । इसी प्रकार मोह की नींद में जो ये १०-२०-५० वर्ष के जीवन के स्वप्न देखे जा रहे हैं, जैसे—धन वैभव से अपना बड़प्पन समझना, लोगों में सम्मान अपमान का बड़ा ध्यान रखना, परिजनों को अपना समझना आदि, पर ये सब मेरे कुछ नहीं हैं, बिल्कुल व्यर्थ की बातें हैं । यह बात तब विदित होती है जब कि मोहनींद टूटती है, सम्यग्ज्ञान जगता है, वस्तु के यथार्थस्वरूप की समझ आती है । यह जीव जिस भव में पहुंचता वहीं रागद्वेष मोह आदि करता हें । नया-नया विषय, नये-नये ढंग, पर वही आदत पुरानी की पुरानी । जैसे अनादिकाल से रागद्वेष मोहादि करते आये, काम तो वही करते लेकिन विषय बदलते जाते हैं । कभी सूकर, कुत्ता, बिल्ली, गधा आदि हुए तो वहाँ उस ढंग का राग किया, कीड़ा मकोड़ा, चूहा चुहिया आदि हुए तो वहाँ भी राग किया । क्या ये चूहा चुहिया अथवा कुत्ता बिल्ली आदि अपने बच्चों से प्रेम नहीं करते? जैसे—मनुष्य अपनी बच्चों से प्रीति करते हैं ऐसे ही अन्य जीव भी तो अपने बच्चों से प्रीति करते हैं । तो रागद्वेष मोहादि करने की यह इस जीव की पुरानी आदत है । तो परदृष्टि करके ये जीव उस परदृष्टि के माफिक कार्य करते जाते । परदृष्टि कर रहे हैं और परदृष्टि करते-करते मरण भी हो जायगा । यहाँ का कुछ भी न उठेगा । कोई सोचे कि मैंने अपने हाथों लाखों का धन कमाया, अब मरणसमय में एक धेला भी मेरे साथ चला चले तो यह कभी हो ही नहीं सकता । तो मोहनींद के स्वप्न में अज्ञानी प्राणी सब अपनी बरबादी कर रहे है, मिलता कुछ नहीं ।

**निर्मोहता में अतिशयानन्दरूपता**—जिन आत्माओं ने मोह छोड़ा, आत्मदृष्टि की, आत्मस्वरूप के निकट उपयोग बसाये रहने में आनन्द का अनुभव किया, आत्मतत्त्व को जाना, वे ही पुरुष सुखी हैं और झगड़े से परे हैं । सिद्ध भगवंत सभी चाहे तीर्थंकर होकर सिद्ध हुए हों और चाहे सामान्य मुनि रहकर सिद्धे हुए हों, वे सब कृतार्थ हैं । उन सबका सुख अतिशय वाला है, अनन्त आनन्द हैं । जिनके सुख में अब कहीं कुछ भी बाधा नहीं आ सकती, क्योंकि आत्मा से उठा हुआ उनका आनन्द है, उनकी पवित्रता में अब कभी धोखा नही हो सकता, क्योंकि अपने आप में कैवल्य रूप पवित्रता उत्पन्न हुई है । उनका सुख बाधारहित है, उनके सुख का कभी विनाश नहीं होता और वे इन्द्रियविषयों से अतीत हैं । जब उनके देह ही नहीं है तो इन्द्रियां कहा से बसें? ऐसे सिद्ध भगवान का सुख (आनन्द) जो उत्कृष्ट है, अमिट है, ऐसा आनन्द हम आप भी पा सकते हैं । लेकिन इस झूठे मायाजाल का, इन कल्पित विषयसुखों का परिहार करना होगा तब हम अपने आपके स्वाधीन आनन्द को प्राप्त कर सकते हैं । गृहस्थजन नहीं त्याग पाते तो २४ घंटे में एक आध घन्टे का समय ऐसे ज्ञानी गृहस्थ रखते हैं कि जिस समय में अपना चित्त मुनिवत् बना लेते हैं । मैं अकिञ्चन हूँ, मेरा कहीं कुछ नहीं है, मैं किसी का उत्तरदायी नहीं हूँ, मैं अपने आप में अकेला ही बसा करता हूँ, आदि सब प्रकार

से भला चिन्तन करके ज्ञानी गृहस्थ २४ घन्टे में कुछ समय अपने आपको अकिञ्चन ज्ञानमात्र अनुभव किया करता है । हम आप इस ढाई द्वीप के अन्दर मनुष्यभव में उत्पन्न हुए हैं । उत्तम जाति, कुल, देश, समागम आदि प्राप्त हुए हैं । इतने पर भी हम यदि इन समागमों का सदुपयोग नहीं करना चाहते तो इस भूल का दण्ड कोई दूसरा उठाने आयगा क्या?

**मनुष्यलोक के सर्वस्थानों से मुक्ति**—इस ढाई द्वीप में प्रत्येक प्रदेश से जीव सिद्ध हुए हैं, अनादिकाल से ये जीव मुक्त होते आ रहे हैं और ढाई द्वीप से ही मुक्त होते हैं तो इस ढाई द्वीप में कोई भी स्थान ऐसा नहीं है जिस प्रदेश से जीव मुक्त न हुए हो । पृथ्वी से भी मुक्त हुए, जल से भी मुक्त हुए और आकाश से भी मुक्त हुए । जहाँ आज जल है, समुद्र है और कुछ हजार वर्ष बाद वहाँ पृथ्वी निकल आये, ऐसे स्थान को भी बात नहीं कहते । यद्यपि ऐसे भी स्थान हैं कि जहाँ आज पृथ्वी दिखती वहाँ कुछ समय बाद सम्भव है कि समुद्र हो जाय और जहाँ आज समुद्र है, सम्भव है कि कुछ समय बाद वहाँ पृथ्वी हो जाय, लेकिन ऐसे स्थानों से भी जीव मुक्त गए । जहाँ सदा जल ही जल रहेगा, वहाँ से कैसे मुक्त हुए? तो सुनो—कोई मुनिराज के विरुद्ध कोई देवता हो, विद्याधर हो और द्वेषवश उस मुनि को उठा ले जाय और वह समुद्र में पटक दे, वहीं से वह मुनि मुक्त हो जाय तो देखो जल की जगह से भी सिद्ध हुए ना? तो जल के स्थान में भी कोई ऐसा प्रदेश नहीं बचा जिस जगह से अनेक सिद्ध हुए हों । आकाश सिद्ध कैसे हुए? तो कोई चारणऋद्धिधारी मुनि आकाश में विहार कर रहे हों, आकाश में ही ठहर गए और वही ध्यान बन गया और वहीं सिद्ध हो गए, ऐसे भी अनन्त सिद्ध हैं ।

**सिद्धभगवन्तों के आत्मक्षेत्र की चरमदेहप्रमाणता**—सिद्ध प्रभु सिद्धधाम में उस आकार में है जिस आकार से कि देह से वे मुक्त हुए हैं । जैसे गहना ढालने के लिए जो ढलवा गहना होता है उसे ढालने के लिए एक मोम का मंजूषा बनाया जाता है और उसमें धातु भर दी जाती है, मोम गल जाता है और उस पोल में वह गहना अपना स्वरूप रख लेता है । तो यों ही जब यह देह गल गया, दूर हो गया, बिखर गया, देह से मुक्त हो गया तो जिस आकार में वह आत्मा था बस उसही आकार में रह गया और ऐसे सिद्ध भगवन्त कम से कम साढ़े तीन हाथ की अवगाहना वाले और अधिक से अधिक ५२५ धनुष की अवगाहना वाले होते हैं । चार हाथ का एक धनुष होता है, तो २१०९ हाथ की अवगाहना वाले सिद्ध भगवान हैं । ज्ञान की पर्याय ५ होती हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, अवधि, मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान । केवलज्ञान होने पर भगवान कहलाने लगते हैं । इससे पहिले छद्मस्थ अवस्था में चार प्रकार के ज्ञान होते हैं । कोई मुनि केवल दो ज्ञान (मति, श्रुत) के धारी होकर केवलज्ञानी बन गए, कोई मुनि मति, श्रुत, अवधिज्ञान वाले होकर या मति, श्रुत, मन:पर्ययज्ञान वाले होकर या मति, श्रुत, मन:पर्ययज्ञान वाले होकर केवलज्ञानी हुए, कोई चार ज्ञान के धारी होकर केवलज्ञानी हुए । केवलज्ञानी होने पर ये चार ज्ञान रहते नहीं हैं, क्योंकि ये अपेक्षा लिए हुए हैं, अल्प

विषय वाले हैं, पर किस-किस प्रकार के ज्ञानी पुरुष मुक्त हुए हैं? यह बात इस प्रकरण में समझ लीजिए । सिद्धभगवान जितने हुए वे या तो खड्गासन से अथवा पद्मासन से मुक्त हुए हैं और वे अब सिद्ध क्षेत्र में जो जिस आसन से मुक्त हुए हैं उनका आकार उस आसनरूप उतने ही प्रकार से सिद्ध होने पर, शरीर से अलग होने पर जो अवस्था थी वही अवस्था रहती है । वे घट जाये, बढ़ जाये, और तरह के फैल जायें, यह बात क्यों नहीं होती कि ये सब बातें कर्म के उदय से होती हैं । कर्म रहे नहीं, जिस स्थिति में वे मुक्त हुए उसी स्थिति में उनका आकार रहता है ।

**ज्ञानसिद्धता**—अनेक मुनि तो प्रत्येक बुद्ध थे, जिन्होंने कभी किसी पाठशाला में किसी अध्यापक से अध्ययन नहीं किया । सहज स्वयं अपने आप उन्हें बोध हुआ । जैसे तीर्थंकर महाराज सब स्वयंबुद्ध होते हैं, वे किसी पाठशाला में मास्टर से नहीं पढ़ते और न साधु होने पर अध्ययन करते हैं, स्वयं ही उनके ऐसा ज्ञान है और दीक्षित होने के बाद यह ज्ञान सहज ही बढ़ जाता है । यह उनकी एक निर्मलता का फल है । कोई मुनि बोधितबुद्ध हुए हैं । दूसरा समझाये उससे ज्ञान प्राप्त करते हैं । तो प्रत्येक बुद्ध भी मुक्त हुए हैं और बोधितबुद्ध भी मुक्त हुए हैं, ऐसे सिद्ध भगवानों में वर्तमान में तो कुछ अन्तर नहीं, किन्तु इनकी पूर्व स्थितियों का विचार करने से उपचार से अन्तर समझते हैं । अन्तर नहीं समझते, किन्तु उनकी पूर्व स्थितियों को बोलकर उनकी भक्ति करते हैं । सिद्ध भगवन्त होने का अर्थ यह है कि यह आत्मा अपने ही सत्त्व के कारण सहज जिस स्वभाव को लिए हुए है वही केवल प्रकट हो जाय, जो दूसरी चीज औपाधिक भाव साथ लगे हुए हैं वे इसके निकट न रहें, केवल रह जाय, उस ही के मायने हैं सिद्ध होना । वे सिद्धप्रभु अब संसारचक्र के गमक गमन नहीं करते, उनका अब जन्म मरण नहीं होता अथवा विषयकषाय इच्छायें ये विकार अब नहीं उत्पन्न होते, केवल ज्ञानमात्र रहे, उनके साथ देह भी नहीं, विकार नहीं कर्म नहीं, कुछ दूसरी चीज ही नहीं, वे केवल ज्ञानघन हो गए । ज्ञान ही ज्ञान निरन्तर बर्तता रहता है । अन्य कोई बात नहीं होती । न देह हें, न गमनागमन है, न विकार है, न कर्म है, कुछ भी अब उनके साथ न रहे, इसलिए वे संसारचक्र के गमनागमन से रहित हो गए । देव, देवेन्द्र, नरेन्द्र और पशु पक्षियों में भी जो विवेकी हैं वे इनकी आराधना करते हैं ।

**सिद्धस्वरूपस्मरण की शरण्यता**—देखो, वीतराग प्रभु की आराधना करने में साक्षात् कुछ फल नहीं दिखता कि धन मिल जाय या परमिट मिले या सुविधा मिले । उनके ध्यान के प्रताप से पुण्यरस ऐसा उमड़ता है कि जिसके उदय में स्वयमेव सुखसामग्री प्राप्त होती हैं और प्रभु का स्मरण या प्रभु कोई कृपा करके हमें कोई साधन जुटा दे, सो बात नहीं । अथवा अदया करके नाराज होकर मेरा कुछ बिगाड़ कर दें सो भी बात नहीं । जैसे लोग दर्पण में अपना चेहरा देखते हैं तो जैसा मुख स्वयं का बनायेंगे वैसा ही मुख उस दर्पण में दिखेगा । जैसे कोई रोता हो तो रोता हुआ, हँसता हो तो हँसता हुआ, और दांत निकालता हो तो दाँत निकालता हुआ, यों जिस प्रकार का अपना मुख बनायेंगे उस प्रकार की उस दर्पण में बात बन रही है । इसको कोई दूसरा बना रहा है क्या? यों ही अपने को जिस परिणाम से ढालते हैं, जैसा उपयोग बनाते हैं

उसके अनुसार हमारी सृष्टि चलती है । तो हम अपने स्वभाव को निरखें और उस स्वभावदृष्टि के बल से उपाधि और औपाधिक भावों को दूर करें । जिन्होंने इन सब उपाधियों को, विकार भावों को सदा के लिए नष्ट किया है वे तीन लोक के जीवों के द्वारा पूजित हैं, विशुद्ध हैं, उत्कृष्ट आत्मा हैं, निर्दोष हैं, ऐसे सिद्ध भगवन्तों की शरण को मैं प्राप्त होता हूँ । जगत में मेरा और कुछ शरण नहीं है, ज्ञानपुञ्ज स्वरूप को देखें, अपने ज्ञान को उपयोग में लाये, तो एक निर्विकल्पता जगेगी, समाधिमात्र बनेगा, समस्त संकट दूर होंगे, कर्म भी दूर होंगे । तो इस कार्य के लिए सिद्ध भगवन्तों का स्मरण शरण है । सो यहाँ ज्ञानी भावना कर रहा है कि मैं ऐसे निर्दोष पवित्र सिद्ध आत्मा की शरण को प्राप्त होता हूँ ।

## श्लोक 3

**साचारश्रुतजलधीन् प्रतीर्य शुद्धोरुचरणनिरतानाम् ।**
**आचार्याणां पदयुगकमलानिंदधे शिरसि मेऽहम् ।।३।।**

**आचार्य परमेष्ठी की भक्ति**—पंच परमगुरुवों में अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु माने गए हैं । अरहंत और सिद्ध तो परम महागुरु हैं, वे भगवान हैं । जो वीतराग सर्वज्ञ हुए, अपने अनन्त आनन्द में लीन हुए ऐसे अरहंत और सिद्ध का वर्णन करने के बाद आचार्य परमेष्ठी का वर्णन करते हैं । जो आचारांग आदिक श्रुतजलधि को तैरकर शुद्ध आचरण में निहित हुए हैं वे आचार्य हैं, और ऐसे आचार्य के चरणकमलों को अपने मस्तक पर मैं धारण करता हूँ । मुख्यतया पद तीन हैं—साधु, अरहंत और सिद्ध । इसी कारण चत्तारिदण्डक में चार मंगल लोकोत्तम ओर शरणभूत माने हैं—अरहंत, सिद्ध, साधु और धर्म । अरहंत, सिद्ध, साधु ये तीन तो व्यवहार से मंगल, उत्तम और शरणभूत माने हैं, धर्म निश्चय से मंगल, उत्तम और शरण है । इसका अर्थ इतना ही है कि वे भिन्न द्रव्य हैं । उन भिन्न आत्माओं की भक्ति सेवा और यहाँ तक कि रागद्वेष मोहादिक कुछ भी व्यवहार की बातें करें तो वह सब व्यवहारकथन होता है । प्रभु की भक्ति करने में जो आत्मा में प्रभु के गुणों का स्मरण, गुणों की दृष्टि, गुणों की उपासना रूप जो परिणाम होता है वह परिणाम वस्तुत: शरण है, मंगल है, उत्तम है और उस परिणाम के जो विषय है ऐसे प्रभु उनकी भक्ति उपासना आदिक का जो शरण है वह व्यवहारकथन है । भिन्न द्रव्य है इसलिए व्यवहार बताया है, पर हमारे जो निश्चयरूप भक्ति के परिणाम हुए उनमें भी आश्रय होते हैं, उनका वह विषय है, इसलिए दृष्टि उन पर है, पर तत्त्वस्वरूप की बात कह रहे हैं कि निश्चय से यह आत्मा क्या कर पाता और उसे व्यवहार में हम क्या कहते हैं?

**वस्तुस्वातन्त्र्य की दृष्टि का प्रसाद**—निमित्त उपादान की बात में इतना तो निश्चित है कि एक कोई भी द्रव्य अपने गुण, अपनी पर्याय, अपने प्रदेश कुछ भी अपने से बाहर निकाल कर दूसरे में नहीं डालते । यह तो एक वस्तु का स्वरूप है? अकाट्य नियम है । जैसे आप यह बताओ कि जो यहाँ पर प्रकाश दिख रहा है क्या वह बिजली का प्रकाश है? निश्चय से तो यह सब इस बिजली का प्रकाश नहीं है, क्योंकि दीपक को

अब कितना बड़ा मानते हैं? जितना यह बिजली का डंडा है उतना बड़ा दीपक आप मानते हैं या जितना प्रकाश इस सारे कमरे में फैला है उतना बड़ा आप दीपक मानते हैं? अरे यह दीपक तो उतना का उतना ही है लेकिन उसका निमित्त पाकर ये चौकी, तख्त आदि प्रकाशित हो गए । तो एक दूसरे में कुछ न कर सका इस दृष्टि से तो वह बात सदा अकाट्य है । वस्तुवों का स्वातंत्र्य है, लेकिन यह बात जो दिख रही है कि दीपक का निमित्त पाकर यह पदार्थ अपनी अन्धकार अवस्था को छोड़कर स्वयं प्रकाश अवस्था में आया, ऐसी जो निमित्त-नैमित्तिक योग की बात है उसे तो कोई मिटा नही सकता। और मेटे कोई तो उसे तुरन्त दिखा सकते । बटन बंद किया तो तुरन्त अन्धकार, बटन खोला तो तुरन्त उजेला हो गया । तो ऐसा निमित्तनैमित्तिक योग है लेकिन प्रत्येक पदार्थ अपने अपने ही स्वरूप में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य करते हैं । यह अकाट्य नियम है । तो निमित्तनैमित्तिक भाव होते हुए भी वस्तु में अपने-अपने परिणमन से परिणमने का स्वातंत्रय सदैव हैं । निमित्तनैमित्तिक का सम्बन्ध तो विकार अवस्था में है, अत: उसकी चर्चा यहाँ नहीं है । इस निमित्त उपादान की चर्चा में प्रयोजन यह निकालते हैं कि मैं सहजज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ, पर इस प्रयोजन को निकालने वाले बिरले ही लोग हैं और केवल एक चर्चा विस्तार करने की रुचि वाले लोग अधिक होते हैं । कोई भी कथन ऐसा नहीं है कि जिस कथन से हम निज आत्मस्वरूप में दृष्टि न ला सके ।

**नयों से आत्मपरिचय की उद्देश्यपूरकता**—नय इस क्षेत्र में मुख्यतया ४ प्रकार के हैं—अशुद्धनिश्चयनय, शुद्धनिश्चयनय, परमशुद्धनिश्चयनय और व्यवहारनय । निश्चयनय उसे कहते हैं जहाँ एक ही वस्तु का धर्म उस ही वस्तु में जाना जाय, परखा जाय, दूसरी वस्तु का सम्बन्ध मानकर, सम्पर्क देखकर दूसरी वस्तु का कुछ भी ख्याल करके जो बात कही जाती है वह व्यवहार है । केवल में केवल को बात निरखने को निश्चयनय कहते हैं । अब केवल में केवल की बात देख लिया । देखो—मलिन प्रयोजन में तो अशुद्ध निश्चयनय है, शुद्ध प्रयोजन में शुद्ध निश्चयनय है, और केवल स्वभावमात्र को देखा तो वहाँ परमशुद्ध निश्चयनय है । जब दो का सम्बन्ध निरखकर बात की जाती है तो वह व्यवहारनय है । अशुद्ध निश्चयनय का उदाहरण है कि जो जीव रागी है, उसमें अपने आप में अपने रागपरिणमन से राग हुआ है । बात ऐसी है । जैसे दर्पण के सामने कोई बालक खड़ा हो जाय तो दर्पण में बालक का प्रतिबिम्ब आया । तो वह प्रतिबिम्ब दर्पण में दर्पण का है । उस बालक के शरीर से निकलकर वह प्रतिबिम्ब आया हो, ऐसा नही है । उस दर्पण में उस बालक जैसा ही वह प्रतिबिम्ब है । इतने पर भी वह प्रतिबिम्ब दर्पण का है । हां दर्पण में जो उस बालक का प्रतिबिम्ब आया है वह उस बालक का सन्निधान निमित्त पाकर हुआ है । इस प्रकार का निमित्तनैमित्तिक योग होने पर भी बालक का उत्पाद-व्यय ध्रौव्य बालक में है ओर दर्पण का उत्पाद-व्यय ध्रौव्य दर्पण में है । उस बालक का जो भी परिणमन हुआ वह दर्पण में आया हुआ नहीं है । अब अशुद्धनिश्चयनय के वर्णन में मैं ज्ञानमात्र हूँ, सहजज्ञानस्वरूप हूँ, इस प्रकार की दृष्टि करने की गुञ्जाइश कैसे बने?

**एकार्थदृष्टि का प्रताप**—अथवा एक दृष्टि को यों समझिये कि जैसे हम दर्पण को देख रहे हैं, मगर पीछे खडे

हुए बहुत से बालकों के प्रतिबिम्ब दर्पण में आ रहे हैं । वे बालक हाथ पैर चलाने आदिक की जो भी क्रियायें करते हैं वे सब क्रियायें हमें दर्पण में दिख रही हैं, तो उस स्थिति में दर्पण की ही सारी बातें हमें दर्पण में दिख रही हैं । उस समय हम जैसा प्रतिबिम्ब वाला दर्पण निरखते हैं वह एक अशुद्ध निश्चयनय का दृष्टान्त है । ऐसे ही यह आत्मा इस शरीर में रुका है । तो शरीर का परिणमन शरीर में हो रहा, आत्मा का परिणमन आत्मा में हो रहा । वहाँ एक दूसरे के परिणमन में कोई मेल नहीं है, मिलावट नहीं है । यह आत्मा अकेला ही रागादिक विकाररूप हुआ है । तो इस दृष्टि में जब निमित्त को देखने की दृष्टि ही नहीं, संकल्प ही नहीं, भाव ही नहीं और देख रहे केवल एक द्रव्य को तो यद्यपि वर्तमान में आत्मा विकाररूप परिणम रहा है, लेकिन उस आत्मा में एक ऐसा प्रताप पैदा हो सकता है कि वह विकार परिणाम से ओझल होकर एक स्वभावदृष्टि की बात हो पड़ेगी और वहाँ यह आत्मा इस अनुभव में आ सकेगा कि यह ज्ञानमात्र है । आखिर जैसे दर्पण में विकृत रूप में परिणमते हुए प्रतिबिम्ब को देखकर हमें यह बोध रहता हैं कि यह प्रतिबिम्ब जो विकृत परिणमन रूप दिख रहा है यह इस दर्पण का नहीं है, दर्पण तो बिल्कुल स्वच्छ है । इसी प्रकार इस आत्मा के परिचयी पुरुष को आत्मा में रागादिक विकार निरखने पर भी उसकी दृष्टि में यह बात आ जाती है कि ये रागादिक विकार इस आत्मा के नहीं हैं, आत्मा तो शुद्ध सहज ज्ञानमात्र है, इसमें विकार नहीं है । शुद्ध निश्चय से जब देखा तो आत्मा केवल ज्ञानी है, आत्मा सर्वज्ञ है । केवल में केवल की बात देखें, शुद्धपर्याय की बात देखें तो शुद्ध पर्याय का और स्वभाव का तो वैसा ही मेल है और स्वभाव का विशुद्ध पर्याय का, स्वभाव का शीघ्र परिचय होता है तो वहां भी पर्याय से दृष्टि हटाने का अवसर आयगा और एक शुद्ध ज्ञानस्वरूप आनन्दस्वरूप अनुभूति में रह सकेगा, ऐसी गुंजाइश है परमशुद्ध निश्चयनय में । तो पदार्थ को एक उसके स्वभावरूप से तका जा रहा है । पर्याय को गौण किया जा रहा है । आत्मा का अनादि अनन्त शाश्वत स्वभाव निरखा जा रहा है । तो वहाँ तो कल्याण की बात सीधी ही है ।

**व्यवहारदृष्टि की पद्धति में भी सहजस्वभाव के दर्शन का उद्देश्य**—अब व्यवहार की बात देखिये कि व्यवहार का दर्शन, व्यवहार की चर्या में भी आत्मा को एक सहज ज्ञानस्वरूप में ले जाना किस तरह कारण बनता है? दर्पण में जैसे बालकों का प्रतिबिम्ब आया है तो व्यवहारनय से यह भी कहा जाता कि यह प्रतिबिम्ब बालकों का है । व्यवहार में यह भी कहा जायगा कि बालकों का निमित्त पाकर यह प्रतिबिम्ब रूप हुआ है । तो जहाँ यह सीधा कहा जाता कि यह प्रतिबिम्ब बालकों का है, वहाँ यही भाव है कि बालकों का निमित्त पाकर दर्पण इस प्रतिबिम्बरूप हुआ है, इस पर विचार करें । यह प्रतिबिम्ब निमित्त पाकर हुआ । इसमें यह बल मिला कि दर्पण का यह स्वरूप नहीं है, वह नैमित्तिक चीज है । इतना भर समझने से स्वभाव दर्शन के बल से कषाय भावों से यह जीव शीघ्र ही विमुख हो जाता है । प्रतिबिम्ब दर्पण का नहीं, किन्तु नैमित्तिक है, निमित्त पाकर हुआ है । किन्हीं भी शब्दों में कहो भ्रम के लिए नहीं होते जिनको वस्तुस्वरूप का परिचय हुआ है । स्तुति में भी बोला जाता कि हे प्रभो ! तुम ही भवोदधि से तारनहार हो, हमें संसार से मुक्त होने में तुम ही

निमित्त हो । उन शब्दों का अर्थ तो तुरन्त ही भक्त जान जाता है कि जो प्रभु की उपासना करता है, उसके परिणाम स्वयं ही विशुद्धि की ओर बढ़ते हैं, तो उसके इस विशुद्ध परिणमे हुए रूप में वे प्रभु आश्रय हैं । भक्ति के समय में अगर कोई उन शब्दों का अर्थ न समझे तो वहाँ भक्ति नहीं बन सकती । तो जहाँ यह समझा कि दर्पण में यह प्रतिबिम्ब निमित्त है, निमित्त पाकर हुआ है तो दर्पण की निजी स्वच्छता की दृष्टि उसके तुरन्त हो जाती है । यह दर्पण में मूलत: एक स्वच्छता है । स्वच्छतामात्र दर्पण है । दर्पण में जो विकृत परिणमन दिखा वह तो एक नैमित्तिक चीज है । यह तो निरुपाधि स्वभाव है । तो निमित्त के इस वर्णन में स्वभावदृष्टि के लिए कितना बल मिला, उसे इसका उपयोग कर लेना चाहिए ।

**आगमवचनों की अन्तस्तत्त्वपरिचय में उपयोगिता**—निश्चयनय के कथन से भी स्वभावदृष्टि का उपयोग लेना, व्यवहार के कथन से भी स्वभावदृष्टि का उपयोग लेना, एक स्वभावदृष्टि के प्रयोजन के लिए है ज्ञान और इसी कारण जयसेनाचार्य ने इसे निश्चयत: कहा है । जीव से रागादिक भाव हैं, वे परमार्थ से पौद्गलिक हैं, इतना जो व्यवहार कथन जोर वाला दिया गया है उसका नाच देखना चाहिए । ये रागादिक विकार पुद्गल परिणाम से निष्पन्न होने के कारण कुन्दकुन्दाचार्य के कथन में भी ये सब पौद्गलिक भाव हैं । परिणमन जीव का है, लेकिन स्वभावभक्ति में स्वभाव निर्लेप स्वभाव स्वरक्षित देखने के लिए आत्मा का जो रागादिक परिणमन है वह चूँकि स्वभाव से तो नहीं हुआ है । रागादिक करने का स्वभाव तो आत्मा का नहीं है, वह विकारपरिणमन है । उस विकार परिणमन को निमित्त के साथ जोड़ करके यह नैमित्तिक है, पौद्गलिक है, बाहरी चीज है, आत्मा की वस्तु नहीं । तो यह व्यवहाररूप स्वभावभक्ति में परमार्थ का रूप परखा गया । किसी कथन से हम तत्त्व की बात जाने, यह तो युक्त है और किसी कथन से घबड़ायें, उस कथन को पसंद ही न करें तो यह जितना वर्णन है शास्त्रों में क्या वह सब व्यर्थ का है? इन सब वर्णनों में हम स्वभावदर्शन का प्रयोजन पा सकते हैं । लोक का ३४३ घनराजूप्रमाण विस्तार बताया है । यह सब रचना भी हमें स्वभावदर्शन के लिए प्रेरणा करती है । स्वभावदर्शन के बिना जीव लोक में, इतने बड़े लोक में प्रदेश-प्रदेश पर अनंत बार जन्म मरण कर चुके । इसी बात का ख्याल दिलाने के लिए ही तो लोक का वर्णन है, जीव के शरीर की अवगाहना का वर्णन है । उस अवगाहना के वर्णन से हमें यह प्रेरणा मिलती है कि अपने आत्मा के सहजस्वरूप का परिचय पाये बिना यह जीव ऐसे-ऐसे देहों में बँधा फिरता है । स्वभावदृष्टि का प्रयोजन अगर हम रखते हैं शास्त्रों के कथन में तो हम अपना भला करते हैं ।

**आचार्य की प्रभुता**—उक्त प्रकार के समस्त कथन जो श्रुत में किए गए हैं इन सब कथनों पर, इन सब रहस्यों पर जिनका भली प्रकार अधिकार है, ऐसे गुरुराज ही आचार्य परमेष्ठी होते है । जैसे कि लोग मान जाते हैं कि कोई भी साधु हो, जिसको चार आदमियों ने कह दिया, या जिसको चार आदमियों के बीच अपना गुरु कह दिया उसे लोग आचार्य कहने लगते हैं, और लोग समझते हैं कि आचार्य होने के लिए ज्ञान की क्या जरूरत? तपश्चरण खुद करें, दूसरों से करवाये, यह आचार्य का काम है । अगर शिष्यों से कोई

अपराध हो जाय तो उन्हें उचित दंड दें और उसके लिए जितने ज्ञान की जरूरत है उतना ज्ञान सीख ले । वे आचार्य हैं, ऐसा लोग मान लेते हैं, पर ऐसी बात नहीं है । उनके नीचे जो उपाध्याय रहता है उस उपाध्याय को कुछ विशेष ज्ञान होता है । आचार्य में तो उपाध्याय से बढ़कर विशेषता होनी चाहिए तब आचार्यत्व हो । तो आचार्य में प्रयोगात्मक रूप से विशेषता होती है । आचार्य के असल में मूल गुण ८ बताये गए हैं । जो ३६ मूल गुणों की बात आचार्यों में बतायी गई है वे मूल गुण तो साधुवों में भी पाये जाते हैं, आचार्य में भी पाये जाते हैं । जैसे तप है, धर्म है, ५ आचार हैं—ज्ञानाचार आदिक । यह सब एक सामान्य बात है । इसकी विशेषता है इस कारण इन ३६ को भी मूल गुण कह दिया है, पर आचार्य में मूल गुण ८ हैं । प्रथम है—आचारी । जो पंचाचारों का स्वयं निर्दोष पालन करते हैं, दूसरों से पालन कराते हैं वह है एक आचारगुण । इसमें जो ज्ञानावरण नाम का भेद है उससे यह सिद्ध है कि आचार्य में स्वयं इतना विशिष्ट ज्ञान होता है कि जिस ज्ञान से प्रभावित होकर उपाध्याय भी उनके आदेश में अनुवर्ती रहता है और कभी धर्म में विघ्न होता हो, हम आप कभी विचलित होते हों, किसी धर्मप्रसंग में या कोई दूसरे विवाद के लिए उपस्थित होते हों, वहाँ कोई चिंता आ गयो हो तो एक आचार्य है, ऐसा नाम जानकर चिन्तायें सब छूट जानी चाहिएँ । अब क्या परवाह? हमारे आचार्य तो ये विद्यमान हैं । ऐसी बात तब आ सकती जब आचार्य में योग्यता भी हो । आचार्य प्रखर विद्वान हो, प्रखर व्यवहार का ज्ञाता हो, तत्त्वमर्म का ज्ञाता हो, ऐसे आचार्य के रहते हुए धर्ममार्ग में उपासक को क्या चिन्ता? इतनी श्रेष्ठता होती है और इसी बात को दूसरे मूल गुण में बतला रहे हैं—आचारवान, जितना श्रुतज्ञान है, रहस्य है, तत्त्वबोध हो, उस सबके वे आधार हैं, इस ही छंद में यह बतलाया जा रहा कि आगम समुद्र को उत्तीर्ण करके आचरण के पालन में जो निरत है ऐसे आचार्यों की मैं वंदना करता हूँ ।

**आचार्य का शरण्यत्व**—आचार्य का दूसरा मूल गुण हुए आधारवान, जिससे यह प्रमाणित है कि आचार्य परमेष्ठी इतने ऊँचे तत्त्वज्ञान के ज्ञाता होते हैं । वस्तुस्वातंत्र्य, निमित्त उपादान आदिक की कथनी और इनके ज्ञान की बात तो यह सब आचार्य परमेष्ठियों को सुपरिचित होती है और सभी जीवों को उनसे निसंदेहता मिलती है । तो जो श्रुतजलधि को उत्तीर्ण करके शुद्ध व्यवहार आचरण में लीन हुए हैं वे कहलाते हैं आचार्य ।

आचार्य परमेष्ठी का इतना दृढ़तम वैराग्य होता है कि साधुवों का शिक्षा दीक्षा आदिक का कार्य करते हुए भी वे उस सबसे इतना निवृत्त और अपने आपके आश्रय में इतना प्रवीण होते हैं कि वे सब झंझट उनके लिए झंझट नहीं हैं । झंझट होता है भीतर के राग से । तो इतना सब कुछ करने पर भी अन्य साधुवों की तरह ही निर्लेप रहें, इसमें कितना उनका आत्मबल है । ग्रंथों में यह वर्णन है कि आचार्य परमेष्ठी आचार्य पद त्यागकर सामान्य साधु रहकर अन्तिम अवस्था में उन्हें धर्मसाधना करनी बतायी है । यह एक जानकर पुरुषार्थ पूर्वक प्रयोगरूप से करने की बात है, किन्तु कोई आचार्य ऐसा नहीं कर सकता । आचार्यपद छोड़े, दूसरे को दे, खुद सामान्य साधु रहें इतनी बात न कर सके और कभी उपयोग इतना निर्मल हो जाय कि

उनका रत्नत्रय पूर्णतया बन जाय तो केवलज्ञान होने में कोई रुकावट नहीं है क्योंकि आचार्य परमेष्ठी स्वयं इतने विरक्त हैं, इतने योग्य हैं कि ध्यान कभी वे ऐसा बना सकेंगे कि जो केवलज्ञान के योग्य बन जाय, लेकिन एक प्रयोग रूप में कैसे करना चाहिए, उस व्यवहाररूप में यह बात कही गई है कि आचार्य भी अन्त समय में समाधिमरण के निकट समय में आचार्यपद छोड़कर स्वयं सामान्य साधु रहकर तपश्चरण करना चाहिए । फिर भी आचार्य के स्वरूप जानने में यह निःसंदेह समझना चाहिए कि वे स्वयं भीतर में ज्ञान के आधार हैं और स्वयं बड़े निर्विकार हुए हैं । ऐसे आचार्यों को सिर नवाकर मैं वंदन करता हूँ।

**धर्म की उपासना और उपलब्धि**—यह मनुष्य जिस वस्तु के प्राप्त करने की तीव्र इच्छा रख रहा हो और योग्यता भी हो प्राप्त करने की, उस मनुष्य को वह वस्तु प्राप्त हो जायगी । यहाँ हम आप योग्यता तो रखते हैं कि हम सही ढंग से धर्म का आनन्द लूट सके । आनन्द धर्म में ही मिलेगा, अन्य प्रसंग में आनन्द का नाम नही है । मान लो जड़ वैभव बहुत इकट्ठे हो गए, अब उस प्रसंग में पर की ओर दृष्टि फंसाये हैं, यह कम है, और होना चाहिए, अथवा हमारे पास खूब धन है, हम इन सबमें अच्छे हैं, यों किसी प्रकार के विकल्प चलें तो वहाँ क्षोभ ही तो रहेगा, शान्ति का नाम नहीं । तो धर्मपालन के सिवाय और किसी भी काम में इस मनुष्य को शान्ति नहीं मिल सकती । जब-जब भी किसी बाहरी काम में रहते हुए भी शान्ति मिल रही हो तो समझना चाहिए कि उस समय भी धर्म का प्रसंग चल रहा है इस कारण शान्ति है । जितने रूप में हमारा धार्मिक परिणाम होगा उतने रूप में शान्ति है और जितने रूप में हमारा अधार्मिक परिणाम है उतनी ही अशान्ति हैं । धार्मिक परिणाम अपने आपके स्वभाव से सम्पर्क रखने वाले, अपने स्वभाव की अभिमुखता रखने वाले जो प्रवर्तन हैं वह तो है धार्मिक परिणाम और अपने आप से सम्पर्क न रखकर किसी पर की ओर लगाव रखने वाला जो परिणाम है वह अधार्मिक परिणाम है । तो जिन मनुष्यों को तीव्र आकांक्षा हुई है कि मुझे आत्मा को जानना है और आत्मा के ही निकट निरन्तर रहना है । हमारा तो एक यही प्रोग्राम है, इसके सिवाय मुझे दूसरी बात रुचती नहीं है, ऐसी जिनकी तीव्र आकांक्षा हुई है उनकी यह दशा होगी कि सब कुछ बाह्य परिग्रह छूट जायेंगे, क्योंकि बाह्यपरिग्रहों को अपना सकने वाला परिणाम तो उनके रहा नहीं । जिसके फल में उनका निर्ग्रन्थ रूप हो जाता है । तो जो साधु केवल एक यही धुन रख रहे हैं कि मुझे काम ही दूसरा नहीं है, केवल इस ही कार्य के लिए मेरा जीवन है कि मैं अपने आत्मा को जानूँ, निगाह में लूँ और उसके निकट निरन्तर बसा करूँ । कर्मविपाकवश अब भी वे जिस काम में सफल नहीं हो पाते तो भी उनकी धुन, उनका लक्ष्य उनका प्रयत्न यही रहता है, उन्हें साधु कहते हैं और वे ही हमारे गुरु हैं ।

**शान्तिसाधना के उद्यम में निश्चयशरण व व्यवहारशरण का दिग्दर्शन**—हमें चाहिए शुद्ध, स्वाधीन शान्ति, जिसके पा लेने पर कोई खतरा ही नहीं है नष्ट होने का या कभी उसके एवज में अशान्ति आने का । शान्ति भोगते-भोगते कभी अशान्ति भी आ जाय, ऐसा जहाँ धोखा भी नहीं है, ऐसी शान्ति चाहिए । इस प्रकार की शान्ति चाहने वाले पुरुष यहाँ व्यवहार में किसकी शरण गहें? शरण गहें गुरुवों की, और ऐसे गुरु ही यहाँ

किसकी शरण गहें कि वे भी अपने कार्य को निर्वाध रूप से सफल बना सके । तो वे गुरुराज शरण गहते हैं आचार्य परमेष्ठियों की । यह व्यवहारशरण की बात कही जा रही है । निश्चयशरण के सम्बन्ध में गुरुवों को तो क्या, अविरत सम्यग्दृष्टि को भी भूल नहीं हो सकती । फिर भी जब तक प्रमाद अवस्था है, तब तक व्यवहारशरण ग्रहण करना ही चाहिए । प्रमाद युक्त अवस्था में हम एक अपना ही रूखा ज्ञान बनाये । किसका कौन है? मैं ही अपने लिए शरण हूँ । और धर्म की शरण, गुरु की शरण त्याग दे तो वह शान्ति के मार्ग में ठीक प्रकार लग नहीं सकता । तो गुरुजन भी जिनको केवल आत्मकल्याण की ही धुन है, आत्मस्वरूप में मग्न होने का ही जिनका भाव है वे भी जिनकी शरण ग्रहण करते हैं उन आचार्य परमेष्ठियों का स्वरूप बताया जा रहा है कि उनकी पात्रता क्या हो सकती है? आचार्य परमेष्ठियों की योग्यता बताने वाले गुण ३६ होते हैं । इन ३६ गुणों की रूढ़ि और किस्म से है । १२ तप, १० धर्म आदिक रूप से । किन्तु ये तो मुनियों में भी सम्भव हैं । ये ३६ गुण आचार्य के खास न रहे । वे ३६ गुण क्या हैं, उन्हें सुनिये—८ तो होते हैं आचारवान आदिक गुण—१२ तप, १० स्थिति कर्म और ६ आवश्यक कर्म । इनमें १० स्थिति कर्म और ८ आचार्यवत्व आदिक, ये १८ गुण कुछ खास विशेषता रखते हैं ।

**आचार्य के आचारवत्त्व गुण में ज्ञानाचार का दिग्दर्शन**—आचार्य के गुणों में पहिला गुण है आचारवान होना । ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार, वीर्याचार—इन ५ आचारों का निर्दोष पालन स्वयं करना और शिष्य साधुजनों को भी पालन कराना । पालन कराया तो नहीं जाता, किन्तु अपनी क्रिया से, अपना निर्दोष व्रत पालने से अथवा उपदेश से शिष्यों को पंचाचार के पालन करने में सावधानी बना सकना, यह ही पालन कराना है । ज्ञानाचार का अर्थ यह है कि सम्यग्ज्ञान के जो आचरण हैं, किस विधि से स्वाध्याय करना, स्वाध्याय करते हुए कैसा भाव रखना, जिन गुरुवों ने स्वाध्याय किया है उनके प्रति कैसा व्यवहार करना, अपने गुरु का नाम न छिपाना, कुछ विशेष प्रतिज्ञा लेकर शास्त्राध्ययन करना आदिक जो साधन हैं उन साधनों सहित ज्ञान का आचरण करना ज्ञानाचार है ।

**आचारवत्त्वगुण में अङ्गभूत दर्शनाचार में नि:शंकित अङ्ग का दिग्दर्शन**—सम्यग्दर्शन के अंग में रुचि रखकर सम्यग्दर्शन के अंग का निर्दोष पालन करते हुए सम्यक्त्व में उपयोग बनाये रहना वह दर्शनाचार है । जैसे नि:शंकित अंग—अपने आपके स्वरूप में शंका न करना । लोक में दुःख कहीं नहीं है अपने स्वरूप की संभाल हो, उपयोग अपने स्वरूप को देख रहा हो, जान रहा हो, मैं तो ज्ञानमात्र हूँ, बाहर में शरीर में अन्य जीवों में जो परिणमन होता है चह अन्य पदार्थों में ही हो रहा है । मैं तो यह ज्ञानमात्र हूं, इसमें जो किसी वस्तु के प्रवेश होने का अवकाश ही नहीं है । अपने सहजस्वरूप को उपयोग में संभाले हुए हों तो चाहे उपसर्ग, कुष्ट, व्याधियाँ, उपद्रव हों तो भी इसको कष्ट कहां है? और फिर जिसकी बाहरी कोई उपद्रव नहीं, कोई मार पीट नहीं कर रहा, ऐसी स्थिति में भी हम आप इस पर कुछ अपना उपयोग न रखें कि मैं तो ज्ञानमात्र हूं । इस ज्ञान में दुःख कहाँ, तो यह ऐसा सुन्दर अवसर खोया जा रहा है । हम अपने उपयोग को

इस तत्त्व के निकट अधिकाधिक बनाये । मैं ज्ञानमात्र हूँ, जानन प्रकाशमात्र, इसके अतिरिक्त मैं और कुछ नहीं हूँ, मेरा स्वरूप इतना है, इस स्वरूप में मुझे कोई जान नहीं रहा । जिसे हम रिश्तेदार कहते, मित्र जन कहते सहयोगी कहते, विरोधी कहते, कोई भी जीव यहाँ मेरे इस ज्ञानस्वरूप को जान नहीं रहे । और जब जान नहीं रहे हैं, तो मेरा ये क्या कर रहे हैं? मेरे से प्रीति ही ये नहीं कर सकते । जिस किसी को भी कुछ समझकर, अपनी कल्पना में अपना सुख जानकर अपने सुख के लिए अपना परिणमन कर रहे हैं, मेरे से किसी का व्यवहार भी नही हो रहा और यह ज्ञानमात्र मैं आत्मा किसी का कुछ व्यवहार ही नहीं कर सकता । मैं तो यह अकिञ्चन ज्ञानमात्र हूँ, ऐसे निजस्वरूप को कोई देख रहा हो, फिर उसे भय किस बात का? कभी कोई बद भी कर रहा हो, कुछ मृत्यु के समय भी उपयोग यदि इस ज्ञानस्वरूपमात्र को संभाले हुए है तो यह यहाँ न रहा और जगह गया । उपयोग अपने स्वरूप को संभाले है तो आगे भी इसका कालयापन उत्तम होगा । अपने स्वरूप में शंका न रखना, यह निश्चयत: नि:शंकित अंग है और व्यवहारत:, जिन-वचन में किसी प्रकार का सन्देह न करना, सो नि:शंकित अंग है । आज या कभी पहिले भी थोड़ासा ज्ञान पाकर ज्ञानमद में आकर, किसी भी ग्रन्थ के वाक्य से उसके मर्म को न जानकर, उसकी स्थितियां परिस्थितियां न समझकर एकदम यह संदेह कर बैठते हैं, प्रकट भी कर देते हैं कि इस ग्रन्थ में यह बात गलत है, आचार्य यहाँ भूल कर गए, यह सब कितना एक मद का वेग है । तो जिसका व्यवहार नि:शंकित अंग भी नहीं पल सकता, वह आगे अपना कदम हो क्या बढ़ायेगा? ऐसे नि:शंकित अंग का पालन करते हुए दर्शनाचार का पालन करना यह दर्शनाचार गुण है ।

**आचारवत्त्वगुण के अङ्गभूत दर्शनाचार में नि:कांक्षित गुण का दिग्दर्शन**—निःकांक्षित अंग—आत्मकल्याण की धुन वाले जीव को प्रथम तो किसी भी विषय में वांछा नहीं जगती । किसी भी विषय की वाञ्छा करने से, साधन बना लेने से इस जीव का क्या पूरा पड़ता? इस काल में भी दुःखी और भविष्य में और भी अधिक दुःखी होगा । तो प्रथम तो यह बात है कि किसी भी विषयसाधन में इस ज्ञानी की आकांक्षा नहीं जगती । और उदयवश जगे भी धर्मपालन करके धर्म की एवज में तो कभी भी यह इच्छा जग ही नहीं सकती कि मुझ को इन्द्रपद प्राप्त हो, धनिकपना प्राप्त हो, ऐसा सुख प्राप्त हो । यदि धर्म के एवज में यह इच्छा जगे तो समझना चाहिए कि उसके नियम से मिथ्यात्व है । वैसे दुकान पर जब ज्ञानी गृहस्थ बैठता है तो क्या यह इच्छा नहीं करता कि इतना लाभ होना चाहिए ? फिर दुकान पर जाता ही वह किसलिए है? तो ऐसी वाञ्छा होना और बात है, मगर धर्म करके विधान, पूजन, तपश्चरण यात्रा आदिक काम करके फिर चाह रखना कि मुझे यह चीज मिले, तो वहाँ सम्यक्त्व नहीं है । निःकांक्षित अंग का पालन करते हुए दर्शनाचार का धारण होता हैं ।

**आचारवत्त्व गुण के अङ्गभूत दर्शनाचार में निर्विचिकित्सिक गुण का दिग्दर्शन**—तीसरा है निर्विचिकित्सक

अंग—कर्मोदयवश दुःख आ पड़ा, उस दुःख में अपने को दुःखी न रखना, म्लान न करना, मलिन न बनाना यह निर्विचिकित्सक अंग है । भूख प्यास आदिक कोई दुःख आने पर अपने को म्लान न बनाना, विषाद न करना, यह निश्चयत: निर्विचिकित्सा अंग है और साधुजनों के बाह्य अपवित्र देह को निरखकर कोई रोग है, कै, दस्त आदि होते हैं अथवा नाक बहती हैं, लार टपकती है, पीप निकलती है आदिक ऐसी भी स्थिति हो तिस पर भी साधुजनों की सेवा करते हुए में अपने चित्त में ग्लानि न करना, अपने दिल को म्लान न होने देना सो निर्विचिकित्सा अंग है । जैसे माता अपने बच्चे की नाक साड़ी अथवा रुमाल से बड़े प्रेम से पोंछ देती है, ग्लानि नहीं करती । गोद में बैठा हुआ बालक यदि मलमूत्रादि कर दे तो कहीं माँ उस बालक को पटक तो नहीं देती । उसे बहुत संभालकर सुखपूर्वक बैठाकर उस मल मूत्र को धो देती है । ऐसा जिसको जिसके हृदय से प्रेम है उसको उसके प्रति ग्लानि नहीं आ सकती । जो पुरुष साधुजनो के प्रति ग्लानि का भाव रखते हैं, प्रकट सिद्ध है कि उनको साधु गुण में, रत्नत्रयभाव में, धर्मभाव में प्रीति नहीं है । तो निर्विचित्सक अंग को निर्दोष विधि से पालन करना दर्शनाचार का धारण है ।

**आचारवत्त्व गुण के अङ्गभूत दर्शनाचार में अमूढ़दृष्टि अंग का दिग्दर्शन**—चौथा अङ्ग है अमूढ़दृष्टि । अपने को मूढ़ (मुग्ध) न बना देना, जो तत्त्व है वही तत्त्व है ऐसी अपनी प्रतीति रखना, कभी भी कुतत्त्व में किसी बाहरी चमत्कार, बाहरी शोभा श्रङ्गार को निरखकर प्रीति न जगना, कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु में किसी भी स्थिति में कुछ भी निरखकर, लौकिक अतिशय देखकर अपने श्रद्धान को न बिगाड़ना, उन्हें देव, शास्त्र, गुरु न मान लेना, सच्चे देव, शास्त्र, गुरु में ही प्रतीति करना, उससे विचलित न हो सकना, सो अमूढ़दृष्टि अङ्ग है । मार्ग केवल एक ही है—आत्मा को जानना, आत्मा के उस सहज ज्ञानमात्र स्वरूप को समझना, तन्मात्र आत्मा की प्रतीति करनी और उस स्वरूप में ही अपने ज्ञान को मग्न करना, यही संसारसंकटों से छूटने का उपाय है । जो ऐसा करते हैं वे गुरु हैं, जो ऐसा कर चुके हैं वे देव हैं, जो ऐसा करने का उपदेश है वह शास्त्र है । उस प्रतीति से विचलित न होना अमूढ़दृष्टि अंग है । ये अनेक गृहस्थ घर में किसी को जरा भी कष्ट आने पर जिसने जो सलाह दी—अमुक पीर को मानो, अमुक के गुरु को मानो, अमुक मन्त्र-तन्त्र करो, तो झट लोग वैसा करने लगते हैं । लेकिन संसार में आज यह मनुष्यजन्म प्राप्त किया है तो इससे हमें क्या लाभ लेना है इसका जिन्हें कुछ निर्णय ही नहीं । मैं कौन हूँ, कहां से आया हूँ, मेरा क्या स्वरूप है, इन सब बातों का कुछ बोध ही नहीं है । तो यह प्रवृत्ति मनुष्यजन्म सफल करने वाली प्रवृत्ति नहीं है । अनेक जन्म पाये, जैसे वे जन्म खो दिए वैसे ही यह मनुष्यजन्म भी खोया जाने को है । जैसे कभी कोई चीज लूटी जा रही हो तो लोग कहते हैं कि भाई थोड़ा समय रह गया है, लूटना हो तो लूट लो । इसी तरह यह मनुष्यभव का क्षेत्र एक ऐसा क्षेत्र है कि जहाँ ऐसी चीज प्राप्त कर सकते हैं, सिद्ध कर सकते हैं, लूट सकते हैं, प्राप्त कर सकते हैं कि जिससे यह जीव सदा के लिए दुःखों से हट सके । आचार्यजन उपदेश करते हैं कि जितना बन सके सिद्ध कर लो, मनुष्यभव को पाकर जितना जल्दी बन सके तिरने का उपाय बना लो । यहाँ के रागद्वेष मोह

में कोई तत्त्व न मिलेगा बल्कि विपदायें ही मिलेगी । निज को निज पर को पर जान, यदि ऐसा उपयोग रहेगा तो तुझे शान्ति मिलेगी, और मान न मान में तेरा मेहमान, यदि ऐसी प्रवृत्ति रहेगी तो उसको क्लेश ही क्लेश मिलेंगे । पुत्र रूठ रहे, स्त्री रूठ रही, मित्रजन रूठ रहे, वे बोलते नहीं, विरोध करते, लेकिन यह पुरुष तो कहता है कि मेरे तो सब कुछ ये ही हैं । मान न मान, मैं तेरा मेहमान, यह तो है एक लौकिक बात, परस्वरूप की बात यह है कि कोई भी जीव मेरा कुछ नहीं हे । कोई मुझे समझता नहीं, कोई मेरी चाह से चलता नहीं, सभी जीवों की यही प्रवृत्ति है । चाहे कितने ही आज्ञाकारी पुत्र हों, कैसे ही आज्ञाकारी सेवक हों, वस्तुस्वरूप ही यह है कि पर से कुछ नहीं मिल सकता । इसके साथ-साथ यह भी सोचना चाहिए कि हम अपना झुंझलाहट वाला भी हृदय न बनाये । देखो ये सबके सब बड़े खुदगर्ज हैं, अपना खाना अपना पहिनना, अपना पैसा, अपनी ही बात में राजी । कैसा खुदगर्ज लिए हैं, ऐसी झुंझलाहट मत करो । खुदगर्जपना क्या? वस्तुस्वरूप ही यह है, जो सत् है वह अपना परिणमन करेगा । कोई भी सत् किसी दूसरे का परिणमन कर सकेगा क्या? अथवा किसी दूसरे के परिणमनरूप बन जायगा क्या? अपना परिणमन कोई दूसरे पदार्थ में सौंप देगा क्या? यह कभी सम्भव नहीं । तो खुदगर्ज को अर्थ क्या? कोई खुदगर्ज न हों और कोई खुदगर्ज हो तब तो यह भेद करें कि यह खुदगर्ज है; जब सभी पदार्थ खुदगर्ज हैं, अपने सत्त्व के कारण अपने आपके परिणमन में ही हैं, अब किसको खुदगर्ज कहते? खुदगर्ज भी किसको कहें सब सत्त्व के भले । सबमें सत्त्व है; अस्तित्त्व है । वे अपने सत्त्व के कारण सुस्थित हैं, सम्यक् हैं, स्वयं हैं, भले हैं, ऐसी भली दृष्टि रख करके अपना पथ गमन हो, उपयोग का प्रवर्तन हो, यही एक शान्ति का उपाय है, दूसरा कोई उपाय नहीं। ऐसे उपाय से अतिरिक्त धर्म से, शास्त्र से, उद्देश्य से अपने को डगमग न करना, ऐसे ही गुरु, देव से अपने को विचलित न करना, कुपथ में रहने वाले देव, गुरु में कभी भी आदर आधेय बुद्धि होना, कुछ शरण सा ग्रहण करने जैसी वृत्ति न होना यह अमूढ़दृष्टि अंग है । ऐसे अमूढ़दृष्टि अंग की साधनों सहित जो दर्शनाचार है उसका धारण यह दर्शनाचार नामक गुण है ।

**आचारवत्त्व गुण के अङ्गभूत दर्शनाचार में उपगूहन आदि शेष अङ्गों का दिग्दर्शन**—एक है उपगूहन अंग, जिसका भाव है कि अपने गुणों को अपने वचनों से प्रकट न करना, दूसरे के दोष को प्रकट न करना उपगूहन अंग है । दूसरे के दोष को प्रकट करने की बुद्धि बाले जीव के उपयोग में गुण का आदर नहीं बनता । उसका दोषों में उपयोग रहेगा । अपने गुणों को प्रकट करने वाले पुरुष में वजन न रहेगा । उस गुण के विकास में जो गति चल रही है वह गति समाप्त हो जायगी, इस कारण अपने गुण अपने मुख से न कहना उपगूहन अंग है । जहाँ अपने आपके गुणों का विकास होता हैं, ऐसे उपगूहन अंग सहित सम्यक्त्व का पालन होना दर्शनाचार है । यह ज्ञानी संत इस आत्मप्रकाशमय मार्ग में स्थित रहने की ही बुद्धि लगाये, मैं जिस किसी भी प्रकार इस स्वभाव में मग्न तो हो जाऊँ ऐसी बुद्धि सहित प्रवृति करने वाले ज्ञानी के कभी कर्मविपाकवश ऐसी अड़चनें, बाधायें, रोग आपत्तियां आ जायें कि जिन आपत्तियों से यह श्रद्धान से चलित हो

सकता है, ऐसी आपत्तियों के समय अपने ज्ञानबल की संभाल करके उन प्रसंगों में अपने को चलित न करना, धर्म में स्थित ही बनाये रहना और दूसरों को अनुकूल उपदेश देकर जिन में धर्म की प्रगति हो उन्हें रत्नत्रय मार्ग में स्थित कर देना स्थितिकरण अंग है । ऐसे स्थितिकरण अंग सहित सम्यक्त्व का पालन करना दर्शनाचार है । ज्ञानी संतों को ज्ञानी संतों के प्रति निष्कपट प्रीति रहती है जैसे यहाँ एक ही कार्य में पूरे भाव से लगने वाले पुरुषों में परस्पर कुछ निष्कपट-सा प्रेम रहता है । निष्कपट प्रेम तो नहीं कह सकते, मगर ऐसा देखा जाता है । जैसे दो बालक, जिनको सनीमा देखने की इच्छा हुई तो वे मिल-जुलकर कैसा प्रेमपूर्वक एक दूसरे के गले पर हाथ रखकर जाते हैं और उन दोनों में से जो बालक चाहे एक दूसरे के पीछे खर्चा कर दे । और-और प्रसंगो में भी जैसे लोग परस्पर में बड़े प्रेम से रहते हैं, इसी प्रकार यहाँ ज्ञानी पुरुष जिनका ध्येय केवल यही है—आत्मा को जानना, आत्मा में मग्न होना, ऐसे अभिप्राय के कुछ ज्ञानी संत मिलें तो उनमें कैसा प्रेम होता? निष्कपट प्रेम होता । इसको कहते हैं शुद्ध वात्सल्य । ऐसे वात्सल्य सहित सम्यक्त्व का पालन करना दर्शनाचार का पालन है और अपने व्रत तप आदिक से रत्नत्रयधर्म की प्रभावना करना, अपने में प्रभावना करना, व्यवहार में भी प्रभावना हो जाय, ऐसी प्रभावना सहित जो सम्यक्त्व का पालन है सो दर्शनाचार का धारण है ।

**आचारवत्त्व गुण के अङ्गभूत चारित्राचार में महाव्रतों का दिग्दर्शन**—आचार्य में आचारकता गुण है । इसकी व्याख्या में प्रसंग अब यह चलेगा कि आचार्य चारित्राधार का आचरण करते हैं । चारित्र होता है १३ प्रकार का अथवा ऐसा कह लो कि चारित्र के १३ अंग है—५ महाव्रत, ५ समिति, ३ गुप्ति । अहिंसा महाव्रत—पूर्ण अहिंसा का पालन करना, स्व-पर जीव की भी हिंसा न करना, सर्व हिंसाओं से विरक्त अहिंसा की मूर्ति साधु परमेष्ठी होते हैं । वही व्रत साधुवों का है, वही व्रत आचार्यों का है । क्योंकि आचारत्व गुण कहकर सब गर्भित कर दिया जो इष्ट छत्तीसों में आचार्य के ३६ मूल गुण कहे । उनमें ५ आचार का अलग वर्णन किया और वह सब एक आचारत्व गुण में गर्भित हो जाता है । सत्य महाव्रत में सत्य बोलना, असत्य अप्रिय कटुक वचनों का प्रयोग न करके सत्य, प्रिय, हितकारी वचन बोलना सो सत्य महाव्रत है । अचौर्य महाव्रत में सर्वथा चोरी का परित्याग, बिना दी हुई कुछ भी वस्तु ग्रहण न करना सो अचौर्य महाव्रत है । ब्रह्मचर्य महाव्रत में सर्वप्रकार के ब्रह्मचर्य का पालन, चित्र के सहारे या पहिले भोगे हुए भोगों के चिंतन के सहारे या किसी के दर्शन से, स्मरण से किसी भी प्रकार रंचमात्र भी विकारभाव न आने देना, सो ब्रह्मचर्य महाव्रत है । परिग्रह का पूर्ण त्याग होना परिग्रहत्याग महाव्रत है । केवल पिछी कमंडल और दो एक शास्त्र रह जाते हैं, वे शुचि, ज्ञान और संयम के उपकरण के नाते से हैं, फिर भी उन उपकरणों के लिए झगड़ा न ठान सकेगा । कोई पुस्तक लेता हो, पिछी छुड़ाता हो तो भी वह साधु उनके पीछे झगड़ नहीं सकता । केवल वे उपकरण मात्र हैं और समस्त परिग्रहों का उनके परित्याग है ।

**आचारवत्त्वगुण के अङ्गभूत चारित्राचार में समिति व गुप्तियों का निर्देशन**—ईर्यासमिति—चार हाथ आगे जमीन

देखकर दिन में अच्छे भाव से, अच्छे काम के लिए विहार करना सो ईर्यासमिति है । सत्य, हित, मित, प्रिय वचन बोलना सो भाषासमिति है । उपकरण देख भालकर धरना उठाना सो आदाननिक्षेपणसमिति है । विधिपूर्वक अन्तराय टालकर शुद्ध निर्दोष आहार लेना सो एषणासमिति है । मलमूत्र, कफ, थूक आदिक निर्जन्तु जमीन पर फेंकना सो प्रतिष्ठापनासमिति हें । मन को वश में करना, मन वश में हो, कोई संकल्प विकल न होने दे, यहाँ वहाँ के व्यर्थ विचार न चलाना सो मनोगुप्ति है । वचन को वश में करना, मौन रहना सो वचनगुप्ति है । शरीर को स्थिर रखना, चञ्चल न बनाना सो कायगुप्ति है । ऐसे ३६ अंगरूप चारित्र का आचरण आचार्य ही करता है और निर्दोष आचरण पालकर दूसरों को प्रयोगात्मक उपदेश देता है और पालन कराता है । यों चारित्राचार के कारण वे आचार्य परमेष्ठी आचारवान कहलाते हैं ।

**आचारवत्त्व गुण के अङ्गभूत तपाचार व वीर्याचार का निर्देशन**—१२ प्रकार के तपों का आचरण निर्दोष विधि से आचार्य करते हैं और उनके इस निर्दोष आचरण को देखकर अन्य साधु शिष्यजन तपाचार में उद्यमी होते हैं । ऐसे तपश्चरण १२ प्रकार के कहे गए हैं । अनशन—आहार का परित्याग करना, ऊनोदर—उदर से कम खाना, भूख से कम आहार लेना ये दोनों ही व्रत निष्प्रमादता के लिए और ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए शुद्ध भाव वृद्धि के लिए कारण पड़ते हैं । व्रतपरसंख्यान—आहारचर्या को जाते हुए कुछ ऊटपटांग विधि व्रत का परसंख्यान कर लेना (आखड़ी ले लेना) । जैसे—मैं इस तरह इस विधि से जाऊँगा, वहाँ इस तरह की विधि मिलेगी तो आहार लूँगा अथवा नहीं आदिक कोई व्रतपरसंख्यान कर लेना उसे व्रतपरसंख्यान कहते हैं । रसपरित्याग—रस का त्याग करना सो रसपरित्याग है । विविक्तशय्यासन—एकान्त स्थान में सोना बैठना अर्थात जहाँ शोरगुल न हो ऐसी स्थिति का निवास विविक्तशय्यासन है । कायक्लेश—शरीर का कृश करना । इन तपश्चरणों के कारण शरीर स्वयं कृश होता है । काय की उपेक्षा करना यह कायक्लेश तप है । क्लेश से मतलब शरीर का कष्ट देने की बात नहीं है, किंतु अपने आचरण में ऐसा सावधान रहना कि शरीर कृश हो जाय उसे कायक्लेश तप कहते हैं । ये ६ बाह्यतप कहलाते । आभ्यंतर तप भी ६ हैं—प्रायश्चित्त करना—कोई अपराध हो जाय उसका पछतावा करना, गुरुजनों से प्रायश्चित्त लेना जिससे आगामी काल में दोष न बने और वर्तमान दोषों से भी मुक्ति मिले । दोष बन जाने से एक चिन्ता और शल्य हो जाती है, जिससे ध्यान में प्रगति नही हो पाती । प्रायश्चित्त के प्रताप से उसका चित्त ऐसा शल्यरहित होता कि अपनी ध्यानसाधना में वह प्रगतिशील हो जाता है । विनय—अपने से बड़े जनों की अथवा उत्तम भावों की विनय करना, उनका आदर करना सो विनय नाम का तप है । जो घमंडी लोग होते हैं, जिन में अहंकार है, मद है उनसे विनय तप तो कभी बन ही नहीं सकता और विनय तप से ऐसी पात्रता आ जाती है कि विनयशील पुरुष के हृदय में तत्त्व की बात, स्वानुभव का उपाय सुगमता से समा जाता है । वैयावृत्य तप—दु:खी रोगी, थके हुए साधु जनों की सेवा करना वैयावृत्य नाम का तप है । वैयावृत्य का असली अर्थ है व्यावृत्त का काम । व्यावृत्त कहते हैं निवृत्ति को, रिटायर को । जो संसार के झंझटों से निवृत्त हो गया, छूट गया उस पुरुष के कार्य को

वैयावृत्य कहते हैं । जो यह सिद्ध करता कि वैयावृत्य नाम का तप विरक्त पुरुषों को ही हो सकता है । रागी पुरुष वैयावृत्ति नहीं कर सकते । स्वाध्याय तप—तत्वोपदेश का ज्ञानवर्द्धक, वैराग्य वर्द्धक शास्त्रों का स्वाध्याय करना, जिसमें स्व का भी अध्ययन चलता रहे, अपने आपके लिए उससे कुछ शिक्षा मिलती रहे, इस पद्धति से अध्ययन करना, सुनना सो स्वाध्याय नाम का तप है । व्युत्सर्ग तप काय से भी और अन्य सब समागमों से भी उपेक्षा करना, उनका परिहार करना और अपने आपके आत्मध्यान में, आत्मउपयोग में वृद्धि रखना सो व्युत्सर्ग नाम का तप है । ध्यान—तत्त्वविचार पूर्वक ध्यान करना, एक ओर अपने चित्त को लगाये रहना इसको ध्यान कहते हैं । यों १२ प्रकार के तपों का निर्दोष आचरण करना और दूसरों को निर्दोष आचरण पालन कराने में उत्साहित बनाना सो तपाचार है । इस तपाचार से आचार्य परमेष्ठी आचारवान कहलाते हैं । वीर्याचार—इन समस्त आचारों को करने की शक्ति प्रयोग करना, समर्थ होना, ऐसा अपना उत्साह बनाना सो वीर्याचार तप है । यों ५ प्रकार के आचारों का पालन करने से आचार्य, परमेष्ठी में आचारत्व गुण होता है । आचार्यपरमेष्ठी के ३६ गुणों में से यह पहिला गुण है ।

**आचार्यपरमेष्ठी का आधारवत्त्व व व्यवहार गुण**—दूसरा मूल गुण है आधारवान होना । श्रुतज्ञान के धारण करने को आधारत्त्व कहते हैं । श्रुत ज्ञान सम्पदा की कोई तुलना नहीं कर सकता । तत्त्वज्ञान के समान जगत में और श्रेष्ठ पदार्थ है ही क्या? उस श्रुतज्ञान सम्पदा को जो धारण करे, ९ पूर्व १० पूर्व, १४ पूर्व तक के श्रुतज्ञान को जो धारण करे अथवा कल्पज्ञान परिज्ञान को जो धारण करे, यह करने योग्य है, यह नहीं करने योग्य है ऐसी विवेक पद्धति वाले कल्प व्यवहार शास्त्र के धारण करने को आधारत्व कहते हैं । यह द्वितीय गुण आचार्यपरमेष्ठी का है । तीसरा गुण है व्यवहार—व्यवहार नाम प्रायश्चित्त का है । आगम के अनुसार, श्रुत के अनुसार, आज्ञानुसार, धारणानुसार और जीत नामक प्रयोग के अनुसार प्रायश्चित का ज्ञान होना और उस प्रकार प्रायश्चित्त देना यह गुण कहलाता है व्यवहारगुण । आचार्य परमेष्ठी प्रायश्चित शास्त्रविषयक परिपूर्ण ज्ञाता होते हैं । ११ अंगरूप शास्त्र में स्पष्ट अथवा अन्य प्रकार के वर्णन से उस प्रायश्चित का प्रतिपादन है । उस आधार से जो प्रायश्चित दिया जाता है वह आगमानुसार प्रायश्चित है । १४ पूर्व में स्पष्ट अथवा अन्य-अन्य रूप से बताये हुए प्रायश्चित को देना श्रुतानुसारी प्रायश्चित है । यद्यपि आगम और श्रुत दोनों का एक अर्थ है, फिर भी यह ११ अंग रूप शास्त्र को आगम और पूर्वरूप शास्त्र को श्रुत कहा है । आज्ञानुसारी प्रायश्चित—जों आचार्य समाधिमरण के लिए उद्यमी हुए है, पर जिनकी जंघाओं में इतना बल नहीं है कि किन्हीं आचार्यों के पास जा सकें, एक ही जगह वे स्थित हैं और कोई आचार्य वहाँ उपस्थित नहीं है, तब वह आचार्य क्या करता है कि अपने ही समान किसी योग्य ज्येष्ठ शिष्य के द्वारा अपना सम्वाद भेजता है और वहाँ उस शिष्य के मुख से दूसरे आचार्य परमेष्ठी के समक्ष आचार्य के दोष की आलोचना होती है । फिर उनके उपदेशे हुए प्रायश्चित्त को ग्रहण करना आज्ञानुसारी प्रायश्चित्त है अर्थात् आचार्यपरमेष्ठी का समाधि समाधिमरण के समय अन्य कोई आचार्य न रखकर अपने ही शिष्य को किसी दूसरे आचार्य के पास भेजे ।

वह उनकी जो आलोचना करेगा वह आचार्य की ओर से और जो कहेगा वह आचार्य ग्रहण करेगा । धारणानुसारी प्रायश्चित्त—आचार्य स्वयं मरण के लिए उद्यमी है और समर्थ नहीं है कि बह किसी अन्य क्षेत्र में भी जा सके तो वह स्वयं अपने आप अपनी धारणा के अनुसार प्रायश्चित्त निश्चित करके प्रायश्चित्त लेता है, वह धारणानुसार का प्रायश्चित्त है । जीत के अनुसार प्रायश्चित्त—समाधिमरण की क्रिया में ७२ साधु उद्यमी होते हैं । जैसे किसी की संभाल के लिए दो चार आदमी छोड़ दिये जाते हैं । उत्कृष्ट समाधिमरण करने वाले क्षपक की सेवा के लिए ७२ साधु उपयोगी बनते हैं । उन सबका विधान भगवती आराधना में खुलासा किया गया है । कुछ साधु उस क्षेत्र से बहुत दूर पर विराजमान रहते हैं, ऐसे द्वार पर कि कोई वादविवाद के लिए क्षपक के पास जाना चाहे तो वह वहीं तत्त्वचर्चा में लगा लेता है और क्षपक को बाधा न आये इस प्रयोजन से कुछ साधु कुछ और निकट रहते हैं । कुछ समय बांधकर दो-दो साधु एक साथ वैयावृत्ति के लिए निकट रहते हैं, ऐसे उन ७२ साधुवों का अपना-अपना प्रोग्राम होता है । इस समाधिमरण करने वाले क्षपक को बहुत शान्ति का मौका मिलता है । तो इस प्रकार ७२ पुरुषों को अपेक्षा जो प्रायश्चित बताया जाय वह जीत प्रायश्चित है । ऐसे ५ प्रकार के प्रायश्चित में जो निपुण है, ऐसे आचार्य को व्यवहारी आचार्य कहते हैं । आचार्य में कितनी क्षमता, कितना ज्ञान, कितनी सामर्थ्य होनी चाहिए? यह सब इस प्रसंग में विदित होता है । यह है आचार्य परमेष्ठी का तीसरा मूल गुण ।

**आचार्यपरमेष्ठी का प्रकारण व आयापायदर्शित्व गुण**—चौथा मूल गुण है प्रकारण । प्रकारण कहते हैं सेवा परिचर्या करने को । समाधिमरण करने में प्रवृत्त हुए क्षपक साधु की परिचर्या शुश्रुषा वैयावृत्ति करना सो प्रकारण नाम का गुण है । जब आचार्य स्वयं क्षपक की सेवा के लिए उपस्थित रहते हैं तो सभी शिष्यों में क्षपक की सेवा करने का उत्साह रहता है, ऐसा प्रकारण नाम का गुण आचार्य में होता है । ५वां मूल गुण है आचार्य का आयापायदिक्—लाभ और विनाश की दिशा बताना, आलोचना करने वाले साधु को आचार्य समझाते हैं—देखो—आत्महित के लिए निर्दोष आलोचना करने में यह लाभ है, निर्दोष आलोचना न करने पर यह दोष है । यह भव क्षणिक है । इसमें साधुपद अंगीकार किया है तो आत्महित के लिए निष्कपट रहना प्रथम कर्तव्य है और पूर्णरूप से आलोचना करने में आत्मा की शुद्धि होती है । कोई बात छिपा ले दूसरे के संकोच से या स्वयं की लाज से तो उसमें दोष होगा और उससे इसकी हानि है । जन्म मरण की परम्परा छिद नहीं सकती । यों लाभ और हानि का उपदेश करना यह आचार्य परमेष्ठी का ५वाँ मूल गुण है ।

**आचार्य परमेष्ठी का उत्पीडन, अपरिश्रावित्व व सुखावहत्व गुण**—छठवां मूल गुण है उत्पीड़न । आलोचना करने वाला साधु कुछ अपने दोष छिपाना चाहे तो समर्थ आचार्य के समक्ष छिपा सकता है क्या? वे आचार्य ओजस्वी होते, तेजस्वी होते, वचनव्यवहार में चतुर होते, और उनकी इस बुद्धिमानी के प्रयोग से शिष्य स्वयं अपने दोष को अपने मुख से उगल देता है । जैसे कि सिंह के पराक्रम को निरखकर स्याल अपने मुख में पड़े हुए मांस को उगल देता है न, यों ही समझिये कि आचार्यपरमेष्ठी के विद्या पराक्रम और चारित्र विक्रम

उनकी ओजस्विता को निरखकर साधु अपने आपमें पड़े हुए दोष को स्वयं उगल देता है । ऐसी विशिष्ट सामर्थ्य आचार्य में होती है । ७वाँ मूल गुण है अपरिश्रावी । शिष्य अपने कहे हुए दोष आचार्य को बताये जो लोक में अपवाद करने वाला हों, जिसे लोग जाने तो मरण भी कर सकें, ऐसे कठिन से कठिन दोष निष्कपट भाव से साधु आचार्य से प्रकट करते हैं और आचार्य उन सब आलोचनाओं को अपने आप में इस तरह गुप्त कर लेते हैं कि जैसे तप्त तवे पर पानी की बूंद गिर जाय तो वह दिखती नहीं हैं । वे आचार्य अपने किसी शिष्य के दोष को लोगों में प्रकट नहीं करते । यह उनका अपरिश्रावी नाम का गुण है । ८वां मूल गुण है सुखावहत्व । कोई साधु सुधा से दुःखी है, तृषा से संतप्त है, रोग से संतप्त है तो उस साधु को आचार्य महाराज ऐसे मधुर और उत्साहवर्द्धक, धर्मरुचिवर्द्धक शब्दों में उपदेश करते हैं कि उसे सुख शान्ति प्राप्त होती है । इस प्रकार ये ८ आचार्य के मूल गुण हैं ।

**आचार्य के स्थितिकल्प गुणों में आचेलक्य व ओद्देशिक पिण्डत्याग नाम का गुण**—अब १० मूल गुण स्थितिकल्प नाम के होते हैं । उन ३६ मूल गुणों में से यह ९वाँ मूल गुण है आचेलक्य नाम का स्थितिकल्प अर्थात् निर्ग्रन्थ दिगम्बर रूप में रहना सो आचेलक्य नाम का स्थितिकल्प है । इस आचेलक्य प्रवर्तन से भावों की पवित्रता, ब्रह्मचर्य की निर्दोषता, चिंता शल्यों का अभाव आरम्भ से मुक्ति आदिक अनेक गुण प्रकट होते हैं । दूसरे पुरुष भी उसके प्रति बड़ा विश्वास रखते हैं । यह सतायेगा नहीं, यह किसी को मारेगा नहीं, यह किसी से कलह न करेगा, जिसने सर्व परिग्रह त्याग दिया है इस स्थिति में रहने वाली साधु किसी के लिए अनिष्ट नहीं हो सकता । इस प्रकार का उसके प्रति लोगों को विश्वास रहता है । १०वां आचार्य का मूल गुण है औद्देशिक पिण्डत्याग अर्थात् जो साधु के उद्देश्य से, मुनि के उद्देश्य से आहार बना हो उस आहार का त्याग करना । वह जानता है कि इसने केवल मेरे लिए यह अलग से आरम्भ किया है तो वह उस आहार को ग्रहण न करेगा । यदि गृहस्थ अपने समस्त घर के लिए शुद्ध विधि से आहार तैयार करता है और फिर उसने यह संकल्प रखा कि मैं मुनि को पड़गाह करके आज जीवूँगा तो यह उद्दिष्ट दोष नहीं है । कारण यह है कि व्रती पुरुष ने तो रोज का ऐसा नियम ही रखा है, जिसे अतिथि सम्विभाग व्रत नाम से कहा गया है । बारह व्रतों में एक अतिथि संविभाग नाम का व्रत है, उसमें यही तो व्रत रखा है कि मैं अतिथि को आहार देकर भोजन करूँगा ।

**आचार्य का शय्याधरपिण्डत्याग व राजकीयपिण्डत्याग गुण**—ग्यारहवाँ मूल गुण है शय्याधरपिण्डत्याग । शय्याधर अर्थात् बसतिका मुनि को ठहराने का प्रबंध करने वाला बसतिका बनवाता है । कोई बसतिका को साफ-सुथरा बनाता है, कोई गृहस्थ बसतिका में ठहरने का प्रबंध रखता है । ये तीनों शय्याधर कहलाते हैं । ये तीन प्रकार के पुरुष जो साधु को बसतिका बनवाकर ठहराये, बसतिका की सफाई परिश्रम करके ठहराये या उसके प्रबंध पर रहें तो तीन प्रकार के लोगों के यहाँ दूसरे दिन पहिली बार साधुजन आहार ग्रहण न करेंगे । हां यदि वे शय्याधर अपने को शय्याधर जाहिर नहीं करते, धर्मलाभ के लिए इस नाम से प्रच्छन्न

होकर आहार दे तो दे सकते हैं । इसमें बात यह आयी कि प्रबंधक लोग प्रबंध करते हों, मैंने मुनि को ठहराया है, मैंने मुनि के रहने की व्यवस्था की है, इस नाते से अधिकार है किं हमारे यहाँ ही भोजन होगा, ऐसी बात लोगों को जंचे, मुनि को जंचे, ऐसा रूप रखकर आहार न दे सकेंगे शय्याधर पुरुष । पर कोई स्थिति ऐसी हो कि जिसको आचार्य समझे योग्यता तो कभी कर भी सकेंगे, पर प्राय: शय्याधर पिण्ड का त्याग होता है । बारहवाँ मूल गुण है राजकीय पिण्डत्याग । इक्ष्वाकुवंश आदिक बड़े-बड़े कुलों में जो राजा महाराजा हैं उनके समान ऋद्धि सम्पन्न, वैभवशील व्यक्ति हैं उन व्यक्तियों के घर में जाकर भोजन ग्रहण न करना यह राजकीय पिण्डत्याग कहलाता है । यद्यपि सर्वथा यह नियम नहीं है कि राजाओं के यहाँ या बहुत बड़े पुरुषों के यहाँ आहार न लेंगे, कभी स्थिति निरख कर सकते हैं, लेकिन ऐसी प्रवृत्ति बनायें तो उसमें क्या दोष आता है? प्रथम तो राजघराने में बड़े घरों में भयंकर कुत्ता आदिक जानवर स्वच्छन्दता से फिरते हैं । संयमी पुरुष उन घरों में प्रवेश करे तो संयम का अपघात भी हो सके, काट भी ले, उपद्रव भी करे और मुनि नग्न भेष को देख कर वहाँ के गाय, बैल, भैंस, घोड़ा, कुत्ता आदिक जानवर विजुक सकते हैं । यहाँ वहाँ भागने लगे तो स्वयं संयमी व्यक्ति को भी और वहाँ के मनुष्यों व पशुवों को भी क्लेश हो सकता है । बड़े घरानों में नौकरचाकर भी बहुत होते हैं; वे मुनि का उपहास भी कर सकते हैं और कभी राजघराने में कोई चोरी हो जाये तो वहाँ लोग यह भी कह सकते हैं कि इस घर में यह मुनि आहार लेने आया करते हैं, इन्होंने ही न चुरा लिया हो । इस प्रकार का संदेह लोग उस मुनि पर भी कर सकते हैं । ऐसी अनेक बातें हैं जिनके कारण राजघराने में बड़े लोगों के यहाँ आहार ग्रहण करने की प्रवृत्ति नहीं बतायी है । हां कभी आहार कर भी सकते हैं, क्योंकि वह निर्दोष व्यक्ति है ।

**आचार्य का कृतिकर्म, व्रतारोपण व ज्येष्ठता गुण**—तेरहवाँ मूल गुण है कृतिकर्म । अपने आवश्यक कार्यों में सावधान रहना और मुनिजनों का विनय रखना कृतिकर्म कहलाता है । चौदहवाँ मूल गुण है व्रतारोपण योग्यता व्रतों के निभाने की योग्यता होना । जो पुरुष पूर्वकथित गुणों में सावधान होता है उसके व्रतारोपण की योग्यता होती है । इस तरह इन अनेक गुणों से सम्पन्न आचार्य परमेष्ठी होते हैं । उनकी शरण गहने वाले शिष्यों की निर्वाध मोक्षमार्ग में प्रगति बनती है । इससे गुरुजन आचार्य परमगुरुवों की शरण ग्रहण करते हैं । आचार्य में ज्येष्ठता नाम का मूल गुण होता है । जिसमें शुरू से अब तक बड़प्पन ही बड़प्पन रहा और घर में भी बड़प्पन था । अपने घर में बड़ा पुत्र हो, वहां भी बड़प्पन हो, ऐसा पुरुष साधु होकर यहाँ भी बड़प्पन पाये, सबके द्वारा आदर के योग्य हो तो उसमें ज्येष्ठता गुण की बड़ी शोभा होती है । ज्ञानचर्या आदिक में उपाध्याय आदिक से भी महान् हों तो वे आचार्यपरमेष्ठी कहलाते हैं ।

**आचार्य परमेष्ठी का प्रतिक्रमण गुण**—सोलहवाँ मूल गुण है प्रतिक्रमण नाम का । दैनिक, पाक्षिक, मासिक, वार्षिक, चातुर्मासिक और संन्यास मरण के समय का उत्तमार्थ प्रतिक्रमण। । इन सब प्रतिक्रमणों की जानकारी होती है और दूसरों को प्रतिक्रमण कराने की जिनकी निपुणता है ऐसे आचार्यों में यह प्रतिक्रमण नाम का

स्थितिकल्प होता है । प्रतिक्रमण कहते हैं लगे हुए दोष को दूर करने को । जो दोष हो गया है, कर्मोदय प्रबल ऐसा आया था कि कुछ चिग गए, व्रत में दोष किया तो उस दोष की शुद्धि कर ले, ऐसे जौ प्रायश्चित्त हैं वे सब प्रतिक्रमण कहलाते हैं । प्रतिक्रमण में निश्चयत: दृष्टि इस बात पर देनी होती है कि मेरे आत्मा का स्वरूप सहज सत्त्व अपने आपके सत्त्व की ओर से विकाररहित है, स्वभाव मेरा अविकारी है, उस अविकारी स्वभाव को दृष्टि में लेकर यह ज्ञानी यों निरखता है कि यह विकार औपाधिक मेरे में आया था, चला गया, मेरा मूल रूप नहीं है। जिसकी मैं निरन्तर शल्य बनाये रहूं, हाय, मेरा जन्म बिगड़ गया, मैं दोषी हो गया, अब मेरा उद्धार ही नहीं हो सकता । दोष करने पर दो आपत्तियाँ जीव पर आती हैं—एक तो यह कि दोष की प्रकृति बन जानें से इसका मन पर की ओर ही रहता है, आत्मध्यान का पात्र नहीं बन सकता । दूसरा यह कि कुछ थोड़ा बहुत बुद्धिमान हो और दोष हो जाय तो वह हमेशा यह शल्य लिये रहता है कि हाय ! मुझ से दोष बन गया । यों वह अपने को कायर मनाये रहता है । विपत्ति तो अज्ञानियों पर और ज्ञानियों पर इन दोनों पर आती है, मगर अज्ञानियों की विपत्ति दूर करने का कोई उपाय नहीं है, सिवाय सम्यग्ज्ञान के । ज्ञानियों पर जो दोष होने पर चिन्ता की विपत्ति आती है उस विपत्ति को परमार्थ से वह अविकार स्वभाव की दृष्टि करके अपनी कायरता को हटाता है । विकार तो औपाधिक था, मेरे स्वभाव में बसा हुआ नहीं था । यदि उस विकार से ही हम घबड़ा गए तो फिर हमारा उद्धार नहीं हो सकता । अपने उस अविकार स्वभाव को दृष्टि में लेकर प्रतिक्रमण करने वाला यह कहता है, कि मिथ्या में दुष्कृतं भवतु, मेरे पाप मिथ्या हों । तो क्या ऐसा कहने मात्र से उस ज्ञानी के पाप मिथ्या हो जायेंगे ? वह ज्ञानी तो अपने निष्पाप विचार ज्ञानस्वभाव को निरख रहा है। उसकी दृष्टि में यह बात जंच रही कि पाप तो मिथ्या थे, मेरे स्वभावरूप न थे, वे तो कर्मोदय से आये । उस निगाह में इसकी यह आवाज होती है कि मेरा पाप मिथ्या होवे । यह तो है परमार्थ प्रतिक्रमण की बात, लेकिन जो व्यवहार प्रतिक्रमण नहीं करता वह परमार्थ प्रतिक्रमण का अधिकारी नही । उसे यह चाहिए कि अपने गुरु से, आचार्य से, निष्कपट आलोचना करके जैसा भी दोष हों वह पूरा दोष निवेदन करें और गुरु महाराज जो प्रायश्चित दे उसे करें । ऐसा करने वाले पुरुष प्रतिक्रमण में अपना उपयोग लगा सकते हैं, और जो व्यवहार प्रतिक्रमण की अवहेलना करता है तो उसमें दोष करते रहने की आदत का प्रश्रय दिया है, उत्साहित किया है । दोष करने की आदत उसकी छूट नहीं सकती, इसलिए व्यवहार प्रतिक्रमण करें और परमार्थ प्रतिक्रमण करें । तो इस प्रतिक्रमण के विधान का पूर्ण ज्ञान है आचार्य परमेष्ठी को जो स्वयं करते हैं और दूसरों से कराते हैं बह उनका प्रतिक्रमण नाम का स्थितिकल्प है । यहाँ व्यवहार प्रतिक्रमण का अर्थ यह है कि अपने गुरु से दोष की आलोचना करके गुरु जो उसका प्रायश्चित दे उसे श्रद्धापूर्वक ग्रहण करें कि हमारे शरण्य गुरु महाराज ने जो बात कही उससे ही मेरी शुद्धि होती है और उससे ही मैं मुक्तिमार्ग में अबाधित चल सकूँगा, मेरा दोष निवृत्त हो ही चुका । जब गुरु महाराज ने इसमें प्रायश्चित विधान बताने की कृपा को है तो अब वह दोष न रखे और प्रायश्चित करे यह उसका व्यवहार अतिक्रमण है।

**आचार्य का मासैकवासित व वर्षायोग गुण**—आचार्य का १७वां मूल गुण है—मासैकवासित । योग्य स्थिति योग्य क्षेत्र समझकर योग्य अवसर जानकर अधिक से अधिक किसी एक स्थिति पर एक माह तक ठहर सकते हैं । वैसे वर्षायोग के अतिरिक्त विधान यह है कि छोटे गाँव में एक रात्रि, कस्बा जैसे नगर में ३ रात्रि और बड़े शहर में ५ रात्रि तक रहें, इससे अधिक न रहें, किन्तु कोई स्थिति ऐसी आये जिसको आचार्य आवश्यक समझते हैं तो एक मास तक कहीं ठहर सकते हैं । यह मासैकवासित नाम का स्थितिकल्प है । इस गुण के सम्बन्ध में कुछ आचार्यों का यह भी मन्तव्य है कि यह मासैकवासित चातुर्मास के पहिले और चातुर्मास के बाद के लिए है । जहाँ चातुर्मास करने का कुछ भाव हो रहा हो उस जगह एक माह पहिले ठहर सकते है और जहाँ चातुर्मास किया हो वहाँ एक माह बाद तक ठहर सकते है । आचार्य उन सब स्थितियों को जानते हैं जिनके कारण वे ठहरना चाहते है । तो यह उनका मासैकवासित नाम का स्थितिकल्प है । १८वां मूल गुण है—वर्षायोग । वर्षायोग के सम्बन्ध में आचार्य परमेष्ठी को सब तरह का विशेष परिज्ञान होती है । आचार्य अपने आत्मतत्त्व के भी विपुल ज्ञानी होते हैं । जिसके ज्ञान में उपाध्याय और अन्य साधुवों से कुछ महत्ता है । और व्यवहार की बातों में भी क्षेत्र कैसा, काल कैसा, स्थितियां क्या, भविष्य में इसका परिणाम क्या होगा, इन सब विषयों के भी बहुत बड़े ज्ञाता होते हैं । वर्षायोग करना सब साधुवों को आवश्यक हे, क्योंकि वर्षाकाल में जीव-जन्तु विकलत्रय एकेन्द्रिय वनस्पति ये जगह-जगह उत्पन्न हो जाते हैं, चलने में विराधना होगी, इसलिए एक जगह ठहरना चाहिए । तो वर्षायोग के सम्बन्ध में क्या विधियाँ है? कम से कम कितना समय वर्षायोग का है, अधिक से अधिक कितना समय वर्षायोग का है, और क्या स्थितियां गुजरे तो किस प्रकार रहता इन सबका परिज्ञान आचार्य परमेष्ठी को अधिक है । सामान्यतया वर्षायोग का यह विधान है कि असाढ़ सुदी १४ की शुरू रात्रि से लेकर कार्तिक बदी १४ की आखिरी रात्रि तक वर्षायोग का समय है । निर्वाण लाडू का जो दिन है, दीवाली का जो दिन है उस दिन वर्षायोग समाप्त होता है । किसी समय स्थितियाँ ऐसी आ जायें कि वर्षायोग करने वाले साधु आषाढ़ सुदी १४ के दिन न पहुंच सके तो सावन बदी ४ के दिन तक पहुंच सकते हैं, इसी तरह वर्षायोग समाप्त होने पर कदाचित् स्थितिवश कार्तिक बदी १५ को न विहार कर सके तो अगहन बदी ४ तक विहार कर जाते हैं । योग्य कारण जानकर वर्षायोग के बाद भी एक माह तक ठहरा जा सकता है । आचार्य परमेष्ठी उसका निर्देश करते हैं और ठहर सकते हैं सभी साधु । कोई विपत्ति ऐसी आ जाय सारे नगर पर कि महामारी फैले, प्लेग फैले और सारे मनुष्य नगर से बाहर जाने लगे, ऐसी स्थिति में वर्षायोग के भीतर भी किसी भी समय आचार्य जब उचित समझें, वर्षायोग समाप्त कर देते हैं और किसी निकट के निरुपद्रव स्थान में अपना वर्षायोग व्यतीत कर देते हैं । इन सब विधियों का ज्ञान आचार्यपरमेष्ठी को है, उसके अनुसार वे वर्षायोग करते हैं और अन्य साधुवों से कराते है । यह वर्षायोग नाम का स्थितिकल्प है । इस १८वें मूल गुण के सम्बन्ध में किन्हीं आचार्यों के मन्तव्य से यह पाद्य नामक मूल गुण है, जिसका अभिप्राय है कि दो-दो महीने से अपने निषिद्ध काल का निरीक्षण करते

हैं । जहाँ रहते हैं उसके परीक्षण, विचारा निर्णय का काम दो महीने पहिले से भी करते हैं ।

**आचार्य परमेष्ठी के द्वादश तपश्चरण व आवश्यकों में से समता, वंदना व स्तवन गुण**—उक्त प्रकार आचार्य के ३६ मूल गुणों में से ये १८ मूल गुण बताये । शेष १८ मूल गुण हैं—१२ प्रकार के तप और ६ प्रकार के आवश्यक । १२ प्रकार के तप की बात तो सर्वविदित है । ६ बाह्य तप हैं और ६ आभ्यंतर तप हैं । ६ आवश्यक हैं । पहिला आवश्यक है समता । रागद्वेष मोह से रहित साम्य परिणाम में अपना उपयोग लगाये रहना यह समता नाम का आवश्यक है । इसका दूसरा नाम सामायिक है । मुनियों का जो सामायिक नाम का आवश्यक है तो गृहस्थों की भाँति नियत समय के लिए नहीं है किन्तु रागद्वेष न करके सदा समता परिणाम से रहने का जो अभ्यास है वह सामायिक नाम का आवश्यक है । जिस ज्ञानी संत ने केवल एक यही अपना उद्देश्य सामने रखा कि मुझे तो केवल इस अविकार ज्ञानस्वभाव में ज्ञान को मग्न रखना ही काम है, दूसरा मेरे लिए कोई काम ही नहीं, इसके अतिरिक्त सारे काम सारहीन हैं—समाज का काम, उपदेश का काम, दूसरे को दीक्षा शिक्षा प्रायश्चित आदि देने का काम आदिक जितनी भी प्रवृत्तियाँ हैं वे सब मेरे आत्महित की एकमात्र नहीं, ऐसा करना अच्छा नहीं है । ये प्रवृत्तियाँ करनी पडती हैं । और आचार्य इन व्यावहारिक क्रियावों को करके प्रतिक्रमण भी करते हैं । यहाँ तक कि दूसरें पुरुषों को मुनि दीक्षा भी देते, उनके उपकार में सहयोग देते, ऐसे काम करके भी आचार्य उस प्रमाद का अतिक्रमण करते है । यहाँ प्रमाद का मतलब आलस्य नहीं, किन्तु आत्मस्वरूप से चिगकर किन्हीं भी बाहरी कार्यों में लगना उसे प्रमाद कहते हैं । आचार्य का इतना ऊँचा वैराग्य होता है कि साधुवों का शिक्षा दीक्षा आदिक व्यवहार करके शिष्यों का सम्पोषण करके भी अपने आपसे अपने आपकी प्रतीति, अपने आपके ध्यान कार्य से वे विचलित नही होते । जब कि साधु जनों का कोई बाहरी लेप नहीं है और उनको अवकाश है, अवसर है कि वह निरन्तर अपने आपके स्थान में बना रहे, उन स्थितियों से भी बढ़कर अथवा उन स्थितियों के समान आचार्य परमेष्ठी में विरक्ति है, उपयोग लीनता और विरक्ति इन दो का समावेश आचार्य परमेष्ठी में है । २०वाँ मूल गुण है आचार्य परमेष्ठीका—वंदना, प्रभुवंदना, अरहन्तसिद्ध देव की वन्दना प्रतिदिन करना भावत:, चिरकाल करना और किन्हीं खास परिस्थितियों में, अपनी किन्हीं क्रियावों में कब कैसी वंदना करना, इन सबका परिचय आचार्य परमेष्ठियों को है । तो इस वन्दना का स्वयं पालन करते हैं और अन्य शिष्यों से पालन कराते हैं । २१वाँ मूल गुण है स्तवन—प्रभु का स्तवन, तीर्थंकरों का स्तवन करना और कराना, यह उनका स्तवन नाम का मूल गुण है ।

**आचार्य के आवश्यक गुणों में प्रतिक्रमणनामक मूल गुण**—प्रतिक्रमण आवश्यक—रोज-रोज प्रतिक्रमण करना, दैवसिक प्रतिक्रमण, दिनभर के दोष का शाम को प्रतिक्रमण करना और रात्रि में लगे हुए दोष का प्रात: काल प्रतिक्रमण करना यह दैवसिक और रात्रिक प्रतिक्रमण है । कोई व्यापारी रोज-रोज हिसाब लगाये बिना नही रह सकता । रोज हिसाब लगाये बिना उसके व्यापार में अन्धेरा है । रोज वह हिसाब लगाता है कि आज

कितना गया, कितना आया, ठीक रोकड़ है कि नहीं? यों सब प्रकार की सम्हाल प्रतिदिन कर लिया करते हैं । जिनको व्यापार में रुचि है वे प्रतिदिन उसकी सम्हाल कर लेते हैं । कोई बिल्डिंग बनवाये या अन्य कोई कार्य करे तो वहां भी वह उसकी सम्हाल प्रतिदिन कर लेता है । आज क्या काम हुआ, कितना काम हुआ, क्या गल्ती हो गई, क्या प्रगति करना है । अब कल के लिए कैसा क्या बनाना है, यों सारी बातों की सम्हाल वह शाम को कर लेता है । उन सब सारहीन सम्हालो से आत्मा की सम्हाल तो बहुत ऊँची चीज है । तो ज्ञानी संत अपने आपके आत्मा की सम्हाल प्रतिदिन करते हैं, और प्रतिदिन ही नही, २४ घन्टे के दो बार (शाम को और प्रातःकाल) करते है । मैंने क्या गल्ती की? पाठ पढ़ जाना, यह भी एक श्रद्धा को लिए हुए हैं, यह भी ठीक है, लेकिन साथ ही सभी चिन्तन रखना, मुझ से आज क्या दोष बने उन दोषों को मानसिक भावों की पद्धति से देखना हे । मैंने क्या विकल्प किया, कैसे भाव बनाया, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, इनके सम्बन्ध में मैंने मन में क्या दोष किया, कितना कौनसा पाप किया, इसका निरीक्षण करते हैं और अपनी गल्ती समझकर उसका कारण निहारकर चिन्तन करते हैं कि क्यों यह विकल्प उठा? विकल्प उठाते ही पाप का बन्ध हो जाता है ।

शरीर से क्रिया कर सके या न कर सके । पर कर्म जो आत्मा में विस्रसोपचय रूप से पड़े हुए हैं वे शरीर की क्रिया को नहीं निरखते, वह क्रिया भी कुछ नही, किन्तु ऐसा सहज निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि यहाँ आत्मा में पाप सम्बन्धी भाव हुआ, विषय कषाय की प्रवृत्ति हुई तो उस हो क्षण में दूसरे भी कार्माण स्कन्ध कर्मरूप परिणत हो जाते हैं, और ऐसा सहज निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि उसी समय यह भी निर्णय हो जाता है कि ये कर्म इतने समय तक रहेंगे, ये कर्म इतनी डिग्री में फल देंगे, यह कर्म इस प्रकृति का फल देगा । और इस निषेक में ये इतने परमाणु हैं, इतने निषेकों में यह फल देने की प्रकृति है, ये सब तुरन्त ही विभाग हो जाते हैं । तो ज्ञानी साधुसंतजन चिन्तन करते हैं अपने दिन-रात में लगे हुए दोषों का और अविकार स्वभाव का ध्यान करके उन दोषों का प्रतिक्रमण करते हैं । और जो दोष विशेष बुद्धिगत हुए, सूक्ष्मता से ऊपर के हुए उनकी फिर गुरुवों से आलोचना करता है । जो लिया प्रायश्चित उनका फिर यह प्रतिक्रमण करता है ।

**आलोचना का व्यावहारिक अर्थ है**—गुरुवों से अपने दोष निवेदन करना । प्रतिक्रमण का व्यावहारिक अर्थ है कि लगे हुए दोषों का प्रायश्चित ग्रहण करके दोषों को दूर करना । प्रायश्चित का अर्थ है—आगामी काल में उस दोष को न करने देना और निश्चय से आलोचना का अर्थ है वर्तमान काल में जो विकार हो रहा है, विभाव हो रहा है उससे भिन्न अपने आपके स्वभाव को निरखना यह है परमार्थ आलोचना, और उस ही उपाय से अतीत वैभवों से भी अपने को न्यारा निरखा जा रहा है । यह उसका प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान है । आलोचना, प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान—इन तीनों का एक प्रयत्न है परमार्थ से । वह एक प्रयत्न क्या है इन तीनों का सो परख कीजिये । वर्तमान काल में उत्पन्न हुए विभावों से निराला अपने अविकारस्वभाव को

निरखना इसमें वर्तमान दोष की भी निवृत्ति हुई और अतीत में जो कर्म बँधे थे, जो दोष किया था उनसे भी निवृत्ति हुई । और अब जब अतीत कर्मों को भी न्यारा निरखा है तो भावी दोष से भी निवृत्ति हुई, क्योंकि उनका फल फिर न होगा । यों वर्तमान दोष से, विभावों से निराला अपने अविकार ज्ञानमात्र स्वरूप को निरखना इसमें आलोचना, अतिक्रमण और प्रत्याख्यान परमार्थ से आया है । तो यह हुआ प्रतिक्रमण नाम का आवश्यक ।

**आचार्य का स्वाध्यायनामक आवश्यक गुण**—अब २२वां है है स्वाध्याय नाम का मूल गुण । स्वाध्याय का कितना उपकार है, इसके ही प्रताप से हमको बोध मिलता है । ज्ञानप्रकाश जगता है । समस्त बाह्य पदार्थों से जो अत्यन्त भिन्न हैं, कोई सम्बन्ध नहीं है, व्यर्थ ही जिन में दृष्टि लगाकर अपने को दुःखी किया जाता है उन सब असार बाह्य भिन्न पदार्थों से निवृत्त करा सकने वाला यदि कोई साधन है तो बह है स्वाध्याय । स्वाध्याय के प्रताप से हम आप जो कुछ थोड़ा बहुत तत्त्वज्ञान में लग रहे हैं, कुछ आत्महित में चल रहे हैं, यह अपना ही तो उपकार है । गुरुवों के तीन कार्य बताये गए हैं—ज्ञान, ध्यान और तपश्चरण । स्थूलरूप से अर्थ तो यह है कि ज्ञान मायने स्वाध्याय करना, ध्यान मायने आत्मस्वरूप का, तत्त्वस्वरूप का एकाग्र चिंतन करना, ध्यान करना, यह ध्यान तप है । और तपश्चरण १२ प्रकार के बताये ही गए हैं । अब अन्तरङ्ग दृष्टि से ज्ञान का अर्थ है केवल जाननहार रहना, सहज ज्ञानस्वभाव को ज्ञान में बनाये रहना । अब आगे देखिये—सहजस्वभाव को ज्ञान में बनाये रहने का काम तपश्चरण और ध्यान से भी ऊँचा है । इसलिए इन तीनों में ज्ञान सर्वोपरि है । इस ज्ञान का अर्थ साधारण जानकारी न लेना किन्तु अविकार ज्ञानस्वभाव ज्ञान में बसा रहे, ऐसी जो परिणति है उसका नाम है ज्ञान । इससे और ऊँचा क्या पुरुषार्थ है । सर्वोत्कृष्ट पुरुषार्थ है । जब गुरु इस ज्ञान पुरुषार्थ में न टिक सके, कभी संज्वलन कषाय के उदय से जो ऐसा ही उपयोग में आ जाय और उस ज्ञान परिणति से चिग जाय तो उसका कर्तव्य है ध्यान । वस्तुस्वरूप का आत्मतत्त्व के, चैतन्यस्वरूप के ध्यान में यदि बाधा आये, तो पुन: ध्यान करे, ध्यान की संतति बनाये रखना यह है दूसरा पुरुषार्थ । जब ध्यान में भी लीन न हो सके तो तपश्चरण करे (१२ प्रकार के तप) इस प्रकार शुद्ध ज्ञानध्यान तपश्चरण में अपना पवित्र समय गुजरता हें ।

**आचार्य परमेष्ठी का व्युत्सर्गनामक आवश्यक गुण**—अन्तिम मूल गुण है कायोत्सर्ग । काय का ममत्व त्यागना । जब काय का ममत्व ही त्याग दिया तो इसका भाव है कि सबसे ममत्व त्याग दिया । कोई पुरुष शरीर से तो ममता छोड़े और अन्य लोगो से बनाये रहे, प्रथम तो ऐसा होता नहीं, जिसको औरों से ममता है उसे अपनी काय से ममता है, और कोई पुरुष यदि अपने आप आत्महत्या भी कर ले तो उससे काय की ममता से भी काय का घात किया है । जिस शरीर को माना है कि मैं यह आत्मा हूँ, बस उसका यश बढ़े, बड़प्पन बढ़े, यह भाव उसने रखा था, उसमें आयी बाधा तो उस बाधा के सम्बन्ध में उसने आत्मघात किया । वहाँ भी मूल में काय में ममता ही रही । काय का ममत्व महापाप है । तो काय का ममत्व त्यागना यह कायोत्सर्ग है

। जहां देह का भी ममत्व त्यागा वहाँ सबका ही ममत्व त्याग दिया । तो समस्त पर वस्तुवों से ममत्व का छोड़ देना इसका नाम कायोत्सर्ग है । मुख्यतया जीव को काय में ममत्व रहता है अतएव काय का ममत्व कैसे त्यागा गया है? उसका अर्थ है सबसे ममत्व के त्याग का । परद्रव्यों से ममत्व त्यागना यह कायोत्सर्ग नाम का अंतिम मूल गुण है । ऐसे ३६ मूल गुणों से सम्पन्न आचार्य परमेष्ठी को मैं नमस्कार करता हूँ ।

## श्लोक 4

**मिध्याबादिमदोग्रध्वान्तप्रध्वंसिवचनसन्दर्भान् ।**
**उपदेशकान् प्रपद्ये मम दुरित्तारिप्रणाशाय ।।८।।**

**उपाध्याय परमेष्ठी की उपासना**—सर्व आत्माओं में जो परम पद में स्थित हुए हैं उन्हें परमेष्ठी कहते है । ऐसे परमेष्ठी ५ होते हैं—अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु । इनमें अरहंत तो वीतराग सर्वज्ञ देह सहित भगवान का नाम है, सिद्ध परमेष्ठी शरीररहित वीतराग सर्वज्ञदेव का नाम है । आचार्य परमेष्ठी जो साधुवों में से विशिष्ट तपश्चरण वाले है, विशिष्ट क्षमता रखते है, जो अपने संघ के सर्व साधुवों का आत्मपोषण कर सकते हैं वे आचार्य परमेष्ठी । यद्यपि आचार्य परमेष्ठी को साधुवों के आत्मपोषण में कुछ नहीं करना पड़ता । साधु ही स्वयं अपने कल्याण की भावना से आचार्य परमेष्ठी का शरण ग्रहण करते हैं और उनके आदेश में रहते हैं । और इस घटना से आचार्य परमेष्ठी के सहज व्यवहार से ही साधुवों का आत्मपोषण होता है । उपाध्याय परमेष्ठी वे कहलाते हैं जो साधु ज्ञान में बड़े ऊँचे हैं, जिनको ११ अङ्ग, १४ पूर्वों में से भी किसी अंश का परिज्ञान है अथवा सबका परिज्ञान है, जिसमें इतनी क्षमता आयी है कि मिथ्यावादी पुरुषों के मदरूप घोर अन्धकार को ध्वंस करने वाले जिनके वचन निकलते हैं अर्थात् इतना विशिष्ट ज्ञान कि कोई मिथ्या प्रलाप करें तो ऐसे पुरुषों का मद अन्धकार दूर कर दें, ऐसे उपाध्याय परमेष्ठी होते हैं ।

**उपाध्याय परमेष्ठी के मूल गुण**—उपाध्याय परमेष्ठी के मूल गुण २५ बताये हैं, किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि वे पच्चीसों मूल सम्पूर्ण ही प्रत्येक उपाध्याय में हों । वे २५ मूल गुण ज्ञान सम्बन्धित हैं । ११ अङ्ग और १४ पूर्व का ज्ञान होने से २५ अंग कहलाते हैं । कुछ कम अंगपूर्व के ज्ञानी साधु भी उपाध्याय परमेष्ठी हो सकते हैं, किन्तु इतनी ज्ञान क्षमता हो कि उस समय के मिथ्यादृष्टियों का मद दूर कर सके जो उस सम्यज्ञान में अपनी श्रेष्ठता रखते हैं और जिनको आचार्य उपाध्याय पद देते है वे ही मात्र उपाध्याय परमेष्ठी हैं । केवल ज्ञान में बड़ा होने से स्वयं ही उपाध्याय नही कहलाते । ज्ञान में महान हों और आचार्य परमेष्ठी जिनको उपाध्याय पद प्रदान करें वे उपाध्याय परमेष्ठी कहलाते हैं । उपाध्याय परमेष्ठी कितने महान् बहुश्रुत ज्ञानमूर्ति हैं यह उनके २५ मूल गुणों के स्वरूप से जान सकते हैं । ११ अंगों का ज्ञान व १४ पूर्वों को ज्ञान होना ये २५ उपाध्याय परमेष्ठी के मूल गुण हैं । आचारांग, सूत्रकृताङ्ग, स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृकथा, उपासकाध्ययन, अन्त:कृद्दशाङ्ग, अनुत्तरोपपादिक्दशांग, प्रश्नव्याकरणांग, विपाकसूत्रांग—ये ११ अंग है

। अग सब १२ होते हैं १२वें अंग का नाम दृष्टिवाद अंग है । इस दृष्टिवाद अंग के भेद १४ पूर्व है तथा परिकर्म सूत्र आदिक हैं इन सबमें पूर्वों का ही परिमाण अत्यधिक होने से १४ पूर्व कहकर बारहवां अंग नहीं कहा । यो ११ अंग व १४ पूर्व ये सब मिलकर २५ गुण उपाध्याय परमेष्ठी के कहलाते हैं । पूर्वो के नाम ये हैं—उत्पादपूर्व, आग्रायणीय पूर्व, वीर्यानुवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यानवाद, विद्यानुवाद, कल्याणवाद, प्राणवाद, क्रियाविशाल, लोकबिन्दुसार ये १४ पूर्व हैं । इन ११ अंग व १४ पूर्वों का जिन उपाध्याय परमेष्ठी को ज्ञान है वे २५ मूल गुणधारी उपाध्याय परमेष्ठी हैं ।

**आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग व व्याख्याप्रज्ञप्ति अंगों का विषय व पदपरिमाण**—अब इन अंग पूर्वो का विषय व पदपरिमाण कहते हैं । इस प्रकरण में एक पद १६३४८३०७८८८ अक्षरों का होता है । आचारांग में साधुवों के समस्त आचरण का वर्णन है । साधु किस प्रकार बैठें, भोजन करें, रहें, सब विधियों का हितपरक वर्णन है । इसमें १८ हजार पद हैं । सूत्रकृतांग में ज्ञान का, विनयादि क्रियाओं तथा धर्म क्रियाओं के सम्बन्ध में स्वमत परमत की क्रियाओं का विशेष वर्णन है । इसके ३६ हजार पद हैं । स्थानांग में जीव पुद्गल आदिक द्रव्य के एक आदिक स्थानों का निरूपण है । जैसे जीव द्रव्य चैतन्य सामान्य की दृष्टि में एक प्रकार है, सिद्ध और संसारी की अपेक्षा दो प्रकार हैं, संसारी जोव स्थावर विकलेन्द्रिय सकलेन्द्रिय के भेद से तीन तरह का है, इसी तरह तीन तरह के जितने और भी पदार्थ हैं, चार-चार आदि तरह के जो-जो पदार्थ हैं उन सबका एक संकलन रूप से वर्णन है । इसमें ४२ हजार पद हैं । समवायांग में समानता का वर्णन है । कोई द्रव्य से समान है, कोई क्षेत्र से समान है, कुछ काल से समान है, कुछ भाव से समान है, जैसे धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य एक समान हैं, ये द्रव्य से समान हैं । मनुष्य क्षेत्र, प्रथम नरक का प्रथम इन्द्रक विल स्वर्ग का प्रथम इन्द्रक विमान ये सब बराबर के हैं । उत्सर्पिणीकाल और अवसर्पिणीकाल ये दोनों समान हैं । केवलज्ञान, केवलदर्शन ये दोनों समान हैं । इस तरह समान-समान बातों का इसमें वर्णन है । इसके एक लाख चौंसठ हजार पद हैं । व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग में जीव के अस्तित्त्व नास्तित्त्व आदिक सम्बंधी ६०,००० प्रश्न गणधर देव ने तीर्थङ्कर प्रभु के निकट किये हैं उनका वर्णन है । इसमें २,२८०० पद हैं ।

**ज्ञातृकथा, उपासकाध्ययन, अन्त:कृद्दश, अनुत्तरोपपादिकदश, प्रश्नव्याकरण व विपाकसूत्र अङ्ग का विषय व पदपरिमाण**—ज्ञातृकथांग में तीर्थंकर के धर्म की कथा का जीवादिक पदार्थों के स्वभाव का वर्णन और गणधर के प्रश्नों के उत्तर का वर्णन है । इसका दूसरा नाम धर्मकथांग भी है । इसमें ५,३६,००० पद हैं । उपासकाध्ययनांग में श्रावकों की प्रतिमा, व्रत, शील, आचरण क्रिया आदिक का वर्णन है । इसमें ११,१७००० पद हैं । अन्त: कृद्दशांग में एक-एक तीर्थंकर के सम्बंध में १०-१० महामुनि बहुत तीव्र उपसर्ग सहकर समतापरिणाम से कर्मों का नाश करके मोक्ष पधारे हैं, उनका वर्णन है । इसमें २३,२८,००० पद हैं । अनुत्तरोपपादिकदशांग में एक-एक तीर्थंकर के तीर्थ में १०-१० महामुनि घोर उपसर्ग सहकर पंच अनुत्तर

विमानों में उत्पन्न होते हैं उनका वर्णन है । इसमें ९२,४४, ००० पद हैं । प्रश्नव्याकरणांग में भूत भविष्यत्काल सम्बन्धी लाभ-हानि, सुख दु:ख, जीवन मरण, शुभ अशुभ आदिक अनेक प्रश्न हैं, उनका उत्तर यथार्थ बताने का उपाय बताया है । तथा इसी में आक्षेपिणी, विज्ञेपिणी, सम्वेदिनी, निर्वेदिनी नामक चार प्रकार की कथाओं का वर्णन है । इसमें ९३, १६००० पद हैं । विपाकसूत्रांग में कर्मों के बन्ध, उदय, सत्ता, फल, शक्ति, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा किस-किस प्रकार से फल होता है, इस सबका वर्णन है । इसमें १,८४,००,००० पद हैं ।

**दृष्टिवाद अङ्ग के भेद, विषय व पदपरिणाम**—१२ वां अंग दृष्टिवाद नाम का है । जिस अंग में १०८,६८,५६,००५ पद हैं । दृष्टिवादांग के ५ भेद हैं—परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका । जिसमें परिकर्म के चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति ऐसे ५ प्रकार हैं । चन्द्रप्रज्ञप्ति में चन्द्रमा का गमन, चन्द्रमा का परिवार, आयु काल की हानि वृद्धि, चन्द्र इन्द्र की देवियाँ, वैभव, ग्रहण आदिक का वर्णन है । इसमें ३६,५०,००० पद हैं । सूर्यप्रज्ञप्ति में सूर्य की ऋद्धि, वैभव, देवी परिवार आदिक का वर्णन है । इसमें ५,०३,००० पद हैं । जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में जम्बूद्वीप सम्बन्धी मेरुक्षेत्र, कुलाचल, सरोवर, नदी आदिक रचनाओं का वर्णन है । इसमें ३,२५,००० पद हैं । द्वीपसागर प्रज्ञप्ति में सभी द्वीप सागरों की रचनाओं का, उनमें जहां-जहां भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी के आवास और वही जो जिनमन्दिर आदिक हैं उन सबका वर्णन है । इसमें ५२,३६,००० पद हैं । व्याख्याप्रज्ञप्ति में जीव अजीव आदिक पदार्थों के प्रमाण का वर्णन है । इसमें ८४,३६,००० पद हैं । दृष्टिवाद अंग के द्वितीय भेद सूत्र में मिथ्यात्व सम्बन्धी ३६३ कुवादों का वर्णन हैं, और उन कुवादों का वर्णन करके निराकरण करते हुए यथार्थस्वरूप का वर्णन है । जैसे कि जीव अबन्धक ही है, अकर्ता ही है, निर्गुण ही है, अभोक्ता ही है, स्वप्रकाशक ही है, परप्रकाशक ही है आदिक अनेक एकान्त पक्षपात हैं उनका वर्णन और उनका निराकरण है । इसमें ८८,००,००० पद हैं । १२वें अंग का तीसरा भेद प्रथमानुयोग है, उसमें २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण, ९ बलभद्र ऐसे ६३ उत्तम पुरुषों का वर्णन है । इसमें ५००० पद हैं ।

**दृष्टिवाद अंग के अन्तर्गत पूर्वों के वर्णन में उत्पादपूर्व, अग्रायणीपूर्व, वीर्यवादपूर्व, अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व व ज्ञानप्रवादपूर्व का विषय व पदपरिमाण**—१२ वें अंग का चौथा भेद है—पूर्वगत । इसमें १४ पूर्व होते है—उत्पादपूर्व में जीव पुद्गल आदि के जिस काल में, जिस क्षेत्र में जिस पर्याय का उत्पादव्ययध्रौव्य होता है उन धर्मों की अपेक्षा लगाकर उनके स्वभाव का वर्णन किया है । इसमें १००,००,००० पद हैं । अग्रायणीपूर्व में ७ तत्त्व, ९ पदार्थ, ६ द्रव्य और सुनय दुर्नय आदिक का वर्णन है । इसमें ९६,००,००० पद हैं । वीर्यानुवाद पूर्व में वीर्यपद, वीर्य, इन्द्रादिक की ऋद्धियाँ, तप की शक्तियाँ, चक्रवर्ती बलदेव आदिक की शक्तियाँ, लाभ, संपदा आदिक का वर्णन है, इसमें ७०,००,००० पद हैं । अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व में पदार्थों का स्वचतुष्टय परचतुष्टय आदिक की अपेक्षा करके अस्ति नास्ति आदि अनेक विधि निषेधों का वर्णन है । इसमें ६०,००,००० पद है ।

ज्ञान प्रवादपूर्व में ज्ञान के स्वरूप, ज्ञान के भेद, ज्ञान का विषय फल आदिक का वर्णन है । इसमें ९९,९९,९९९ पद हैं ।

**दृष्टिवादांग के अन्तर्गत सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद व कर्मप्रवाद का विषय एवं पदपरिणाम**—सत्य प्रवादपूर्व में वचनगुप्ति, वचन संस्कार के कारण १२ प्रकार की भाषा सत्य असत्य के भेद इन सबका वर्णन है । इसमें १,००,००,००६ पद हैं । आत्मप्रवादपूर्व में आत्मा के सम्बन्ध में कर्तृत्व भोक्तृत्व आदिक विषयों का निश्चय व्यवहार की अपेक्षा वर्णन है । जैसे कि व्यवहारनय से इन्द्रिय बल आदिक प्राणों को धारण करे सो जीव है । निश्चयनय से चैतन्य प्राणी को धारण करे सो जीव है आदिक आत्मा के सम्बन्ध मैं वर्णन है । व्यवहार और निश्चय का मुकाबला एक-एक विषय में किया गया है जैसे जीव व्यवहारनय से शुभाशुभकर्म का कर्ता है। निश्चय से अपनी परिणति का कर्त्ता है । व्यवहारनय से शुभाशुभ कर्मों का भोक्ता है, निश्चय से निजस्वरूप का भोक्ता है । व्यवहारनय से कर्मवश होकर संसाररूप परिणमता है, निश्चय से स्वयं अपने ज्ञानदर्शन की परिणति में परिणमता है आदिक आत्मा के स्वभाव का कथन किया गया है । इसमें ३६,००,००,००० पद हैं । कर्मप्रवादपूर्व में ज्ञानावरण आदिक कर्म के सम्बन्ध में उनकी सब अवस्थाओं का वर्णन है । तथा मन, वचन, काय की अनेक क्रियाओं का वर्णन है । इसमें १,८०,००,००० पद हैं।

**दृष्टिवादांग के अंतर्गत प्रत्याख्यानवाद, विद्यानुवाद, कल्याणवाद, प्राणवाद क्रियाविशाल व लोकबिन्दुसार नामक पूर्व का विषय तथा पदपरिमाण**—प्रत्याख्यानवादपूर्व में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, शक्ति संहनन के अनुसार त्याग, उपवास, भावना आदिक का वर्णन है । इसमें ८४,००,००० पद हैं । विद्यानुवादपूर्व में ७०० अल्प विद्यायें और ५०० महा विद्यायें, इनके स्वरूप का, सामर्थ्य का, मन्त्र तन्त्र साधना का, सिद्धविद्या के फल का तथा अष्टांग नाम ज्ञान का वर्णन है । इसमें १,१०,००,००० पद हैं । कल्याणवादपूर्व में तीर्थंकर, चक्री, बलदेव आदिक के कल्याण का महोत्सव और तीर्थंकरत्व का कारणभूत षोडशकारण भावनाओं का तपश्चरण आदिक का वर्णन है । इसमें २६ करोड़ पद है । प्राणवादपूर्व में ८ प्रकार के वैद्यक चिकित्सायें भूत आदिक व्याधियां दूर करने के मंत्र आदिक, विष दूर करने के मन्त्र आदिक, स्वर विज्ञान, आदिक विषयों का वर्णन है । इसमें १३,००,००,००० पद हैं । क्रियाविशालपूर्व में संगीतशास्त्र, अलंकार आदिक अनेक कलावों का वर्णन है । पुरुषों की कलायें, स्त्रियों की कलायें, सम्यक्त्व आदिक क्रियायें, देववंदन क्रियायें, इनका वर्णन है । इसमें ९००,००,००० पद है । लोकबिन्दुसार पूर्व में तीनों लोक के स्वरूप का बीजगणित आदिक का, मोक्ष के कारणभूत क्रियावों का मोक्षसुख का वर्णन है । इसमें १२,५०,००,००० पद हैं ।

**दृष्टिवाद के अन्तर्गत चूलिका के भेदों का विषय व पदपरिमाण**—१२वें अंग के पंचम भेद चूलिका में जलगता, स्थलगता, मायागता, रूपगता, आकाशगता विद्याओं का वर्णन है । जलगता में जल को रोकने के लिए जल में गमन करना, अग्नि को रोकना, अग्नि-प्रवेश, अग्नि-भक्षण आदिक क्रियावों के कारणभूत मन्त्र-तन्त्र का वर्णन है । इसमें २,०९,८९,२०० पद हैं । स्थलगता—चूलिका में पर्वतभूमि में प्रवेश करना शीघ्रगमन, इन

मंत्र-तंत्रों का वर्णन है । इसमें २,०९,८९,२०० पद हैं, मायागत चूलिका में इन्द्रजाल, विक्रिया के मन्त्र-तन्त्र का वर्णन है । इसमें २,०९,८९,२०० पद हैं । रूपगता चूलिका में सिंह, हाथी, हिरण आदिक के रूप पलटने के मन्त्र-तन्त्र तपश्चरण का निरूपण है । चित्रामधातु रस-रसायन का भी इसमें वर्णन है । इसमें २,०९,८९,२०० पद हैं । आकाशगता चूलिका में आकाशगमन के मन्त्र-तन्त्र आदिक का वर्णन है । इसमें २,०९,८९,२०० पद हैं । इस तरह यह समस्त द्वादशांग है । इसके ज्ञाता उपाध्याय परमेष्ठी होते हैं।

**श्रुतज्ञान में जघन्य श्रुतज्ञान से उत्कृष्ट श्रुतज्ञान तक का वृद्धिवर्णन**—श्रुतज्ञान में सबसे कम ज्ञान सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्य पर्याप्तक के है । इसके अक्षर के अनन्तवां भाग ज्ञान बताया गया है । इस ज्ञान के ऊपर और अनेक वृद्धियाँ होकर असंख्यात लोकप्रमाण षड्वृद्धियाँ ऊपर जाकर पर्यायसमास नाम का श्रुतज्ञान होता है । जो कि पर्याय समास का अन्तिम भेद है । इससे अनन्तगुना करने पर अक्षर नाम का श्रुतज्ञान होता है अर्थात् एक अक्षर के प्रसंग में जितने ज्ञान का प्रमाण होता है उतने ज्ञान को अक्षर बराबर ज्ञान कहते हैं । इस अक्षर श्रुतज्ञान के ऊपर एक-एक अक्षर की वृद्धि हो-होकर जब तक एक पूरा पद नहीं होता तब तक अक्षरसमास ज्ञान कहलाता है । अक्षरसमास ज्ञान में एक अक्षर ज्ञान बढ़ने पर पद नामक श्रुतज्ञान होता हे । यह पद १६३४,८३०७,८८८ अक्षरों का एक पद होता है । इस पद नामक श्रुतज्ञान के ऊपर एक- एक अक्षर प्रमाण श्रुतज्ञान बढ़ने पर एक पद कम संघातक पद समास श्रुतज्ञान है । पदसमास श्रुतज्ञान में एक अक्षर बढ़ने पर संघात श्रुतज्ञान होता है । एक संघात में नरकगति की एक पृथ्वी का वर्णन हो जाता है । संघात श्रुतज्ञान के ऊपर एक-एक अक्षरप्रमाण श्रुतज्ञान बढ़ने पर एक कम प्रतिपत्ति श्रुतज्ञान तक संघातसमास होता है । संघातसमास में एक अक्षर बढ़ने पर प्रतिपत्ति श्रुतज्ञान होता है । प्रतिपत्ति श्रुतज्ञान के ऊपर एक-एक अक्षर अधिक होने पर एक कम अनुयोग द्वार तक प्रतिपत्तिसमास होता है । इसमें एक अक्षर बढ़ने पर अनुयोगद्वार श्रुतज्ञान होता है । एक अनुयोग में १४ मार्गणाओं का पूर्ण ज्ञान भरा हुआ है । अनुयोग श्रुतज्ञान पर एक-एक अक्षर बढ़ने में एक कम प्राभृत-प्राभृत श्रुतज्ञान,तक अनुयोगसमास श्रुतज्ञान होता है । उसमें एक अक्षर बढ़ने पर प्राभृत-प्राभृत श्रुतज्ञान होता है । प्राभृत-प्राभृत श्रुतज्ञान के ऊपर एक-एक अक्षर बढ़ते रहने में एक कम प्राभृत श्रुतज्ञान तक प्राभृत-प्राभृत समास होता रहता है । इसमें एक अक्षर बढ़ने पर प्राभृत श्रुतज्ञान होता है । इसके ऊपर एक-एक अक्षर के बढ़ते रहने में एक अक्षर कम २०वें प्राभृत तक प्राभृतसमास होता है। २०वें प्राभृत के ऊपर एक अक्षर प्रमाण श्रुतज्ञान बढ़ने पर वस्तु नामक श्रुतज्ञान होता है । वस्तु श्रुतज्ञान के ऊपर एक-एक अक्षर बढ़ते रहने में एक कम अन्तिम वस्तु श्रुतज्ञान तक वस्तुसमास श्रुतज्ञान होता रहता है । अन्तिम वस्तु श्रुतज्ञान के ऊपर एक अक्षर की वृद्धि होने पर पूर्व नामक श्रुतज्ञान होता है । पूर्व श्रुतज्ञान के ऊपर एक अक्षर बढ़ने पर पूर्वसमास श्रुतज्ञान होता है । यह पूर्वसमास श्रुतज्ञान तब तक बढ़ता रहता है जब तक कि १४वें पूर्व का अन्तिम अक्षर उत्पन्न होता है । इस प्रकार श्रुतज्ञान के अनेक विस्तार है इन सबके ज्ञाता उपाध्याय परमेष्ठी होते हैं । यद्यपि समस्त द्वादशांग के ज्ञाता आचार्य भी होते हैं तो भी आचार्य जिनको

उपाध्याय पद देते हैं वे उपाध्याय परमेष्ठी कहलाते हैं ।

**पाप बैरी के विनाश के अर्थ ज्ञानशिक्षक उपाध्याय परमेष्ठी का शरणग्रहण**—साधुजन अपने ज्ञान की वृद्धि के लिए और आत्मकल्याण कारक सद्बोध के विकास के लिए उपाध्याय परमेष्ठी का शरण ग्रहण करते हैं । वे उनसे अध्ययन करते हैं, तत्त्वाभ्यास करते हैं । ऐसे उपाध्याय परमेष्ठी का मैं पाप बैरियों के नाश के लिए शरण ग्रहण करता हूँ । पाप को, अज्ञानान्धकार को, मोह बेरी को दूर करने में समर्थ एक ज्ञान ही है । जीव का धन सिवाय ज्ञान के और क्या है? ये घर, सोना, चाँदी आदिक बाह्य वैभव जिनमें आज का मनुष्य एकदम बह रहा है, उन ही को अपना सार समझता है और इन रात-दिन के चौबीसों घन्टे धन-वैभव के पीछे पड़ा हुआ है, वे समस्त बाह्य वैभव असार है, ये आत्मा को काम देने वाले नहीं हैं । रही एक जिन्दगी की बात, तो यदि एक जीवन में कुछ स्वार्थी जनों ने, मोही जनों ने थोड़ा भला कह दिया तो इतने मात्र से आत्मा का क्या लाभ होता है और इतनी-सी असार बात के पीछे अपनी सारी जिन्दगी उस ही पंक में लपेटे रहना यह कितना बड़ा अनर्थ है । चूंकि इस अभिप्राय के लोगे बहुत हैं, प्राय: करके सभी जन इस ही लौकिक सुख की धुन में पड़े हुए हैं, सो लोग धन के विशाल हो जानें से बड़प्पन महसूस करते हैं । यह बड़ा आदमी है, ऐसा कहकर लोग यही अर्थ लेते हैं कि इसके पास धन बहुत है । किसी सच्चरित्र गरीब के लिए बड़ा कहने वाला यहां कोई नहीं मिलता । यह बड़ा आदमी है ऐसा कहने वाले का भाव ही यह है कि यह बड़ा धनी है और सुनने वाले भी यही अर्थ लेते हैं । तो जिस धन-वैभव के पीछे आज सारा मानव इतना बहा जा रहा है वह धन वैभव इस जीव के लिए काम न देगा । जीव का काम देने वाला है तो एक ज्ञान ही है । धन वैभव भी हो तो भी सुखी वह ज्ञान के बल पर ही रह पाता है । गरीब हो तो भी वह सुखी ज्ञान के बल पर ही रह पाता है । जीव का साथी ज्ञान ही है, जीव का शरण ज्ञान ही है । घर में रहने वाले किसी पुरुष का दिमाग चल जाय, पागल हो जाय तो सब लोग उसे मरे की तरह जानकर स्नेह छोड़ देते हैं । यदि कुछ आशा हो कि इसका दिमाग सुधर सकता है तब तो थोड़ी बहुत प्रतीति रखते हैं, लेकिन जान लिया कि यह तो बेकार हो गया, इसके पागलपन पूरा आ गया तो सब लोग उसे चित्त से बिल्कुल उतार देंगे । ज्ञान सही है तो लोक में पुण्योदय से साथी भी मिल जायेंगे और अपना ही ज्ञान यदि मिथ्या हो गया, भ्रान्त हो गया तो साथी भी साथ छोड़ देंगे । तो जीव का असली सारथी शरण एक ज्ञान ही है । सम्यक् धर्मसम्बन्धित ज्ञान जिनकी शरण ग्रहण करने से प्राप्त होता है वे उपाध्याय परमेष्ठी हम आप सब लोगों के कितने बड़े उपकारी कहें जायें? तो ऐसे उपाध्यायों की में अज्ञानान्धकार, मोहान्धकार दूर करने के लिए शरण को ग्रहण करता हूं ।

## श्लोक 5

**सम्यग्दर्शनदीपप्रकाशकामेयबोधसम्भूताः ।**

**भूरिचरित्रपताकास्ते साधुगुणास्तु मां पान्तु ।।५।।**

**रत्नत्रयमूर्ति साधु परमेष्ठी से अभ्यर्थना**—अब सिद्ध परमेष्ठी की भक्ति में कहते हैं कि जो सम्यग्दर्शनरूप दीप के प्रकाशक हैं जिनके दर्शनमात्र से भी निजतत्त्व से प्रभावित होकर मिथ्यात्व का वमन करके सम्यक्त्व का स्वाद लेते हैं अथवा जो सम्यग्दर्शन दीप से अन्त: पूर्ण प्रकाशमान हैं, जिनका बहुत बड़ा भारी ज्ञान है, जिनकी बड़ी लम्बी चारित्र पताका फहरा रही है ऐसे साधु के गुण हम सबकी रक्षा करें । वास्तव में आत्मा का हित है तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्ररूप परिणाम में है । यह देह भी जिसको हम आप लोग लादे-लादे फिर रहे हैं, कल्पना तो करो कि जैसे अन्य लोग मर गए और उनके शरीर जला दिए गए, राख हो गए, ऐसे ही राख होने योग्य तो यह हम आपका शरीर है । इसको कब तक लादे, कब तक इसे सम्हाले, कब तक श्रृंगार करें? इस शरीर का तो मोह छोड़ दे अर्थात् ऐसा ज्ञान बना ले कि मैं तो अकिंचन ज्ञानमात्र हूँ, यह देह मैं कतई नहीं हूँ । यद्यपि देह का वर्तमान में ऐसा बन्धन है कि देह को छोड़कर मैं कहां जाऊं? मुझको छोड़कर देह कहां जाय? (जब तक आयु का उदय है तब तक की बात कह रहे हैं आगे भी यही बात है संसार में) इतने पर भी जैसे दूध और पानी मिले हुए होने पर भी न्यारे-न्यारे ही हैं इसी प्रकार यह जीव और यह देह इस समय एक क्षेत्रावगाही है तो भी न्यारे-न्यारे ही हैं । इनका स्वरूप विपरीत-विपरीत है । आत्मा तो अमूर्त है । इसमें रूप, रसं, गंध, स्पर्श नहीं और यह देह मूर्तिक है एक दूसरे से बिल्कुल उल्टा है । आत्मा ज्ञानस्वरूप है । इस देह में ज्ञान का नाम निशान भी नहीं है, इसमें तो हड्डी, चाम, खून, मांस आदिक ये ही भरे पड़े हैं । इनका स्वरूप ज्ञान तो नहीं है, और मुझे आत्मा का स्वरूप ज्ञान हैं । तो इस देह से मैं अब भी न्यारा हूँ । देह अज्ञान जड़ है और मूर्तरूप है । तो इस देह से यह मैं आत्मा अभी भी निराला हूँ, ऐसा अपना सम्यग्ज्ञान हो, विश्वास हो और इसी स्वरूप में रमण करने की कोशिश करें सो यह तो है हम आपके लिए शरण किन्तु इस भाव को छोड़कर, रत्नत्रय स्वरूप को छोड़कर अन्य कुछ भी शरण नहीं है ।

**प्रभुदर्शन में रत्नत्रय की साधना का लक्ष्य**—मैं हम जिनप्रभु की मूर्ति की वंदना करते हैं, दर्शन के लिए दूर-दूर आ जाकर यात्रा करते हैं, भक्ति में समय व्यतीत करते हैं वहाँ और बात क्या हुई? मूर्ति तो मूर्ति ही है । मूर्ति में उन महापुरुषों की, प्रभु की स्थापना की गई है और उसे देखकर हम झट उस जिनेश्वर की ओर दृष्टि ले जाते हैं जो वीतराग सर्वज्ञ हुए । वे वीतराग सर्वज्ञ हुए । वे वीतराग सर्वज्ञ किसके प्रताप से हुए? रत्नत्रय की साधना से । उन आत्माओं ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की अपूर्व साधना की, जिसके प्रताप से वे अरहंत हुए, सिद्ध हुए उनकी भक्ति में हम आते हैं । तो हम भक्ति करें और प्रभुता की शिक्षा ग्रहण करें कि हे प्रभो ! आपने मोह त्यागा, जिसका प्रताप है कि आप परिपूर्ण ज्ञानानन्द में मग्न हो गए, कर्मकलंक से सदा के लिए छूट गए, सिद्ध हो गए, कृतकृत्य हो गए, अब अनन्तकाल तक भी आपके लिए कोई अकल्याण की बात नहीं है । तो उनके गुण चिन्तन करते समय साधन का स्मरण जरूर रखना

चाहिए कि सम्यक्त्व ज्ञान और चारित्र के प्रताप से ही उन्होंने प्रभुता प्राप्त की और सदा के लिए शाश्वत आनन्दमग्न रहे, उसका उपाय सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र का साधन है ।

**सम्यक्त्वलाभ का कर्तव्य**—सम्यग्दर्शन क्या है? आत्मा का जैसा सहजस्वरूप है अपने आपकी सत्ता से अपने आप जो इसमें भाव पाया जाता है उस भाव का अनुभव होना, उस भाव की प्रतीति होना, उस भाव के विषय में विपरीत अभिप्राय न रहना, ऐसी स्वच्छता को सम्यग्दर्शन कहते हैं । इसकी साधना तत्त्वचिन्तन से होती है । सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का उपाय तत्त्वचिन्तन है । तत्त्व क्या? प्रत्येक आत्मा का जो सहज भाव है वही उस पदार्थ का तत्त्व है । मेरे आत्मा का जो सहज भाव है, केवल सहज ज्ञान बस वही मेरा तत्त्व है, वही मेरा वैभव है, जिसके निरख लेने पर सदा के लिए संकट टल जाते हैं । जो मेरे साथ जायगा, मेरे को शरण होगा यह सहजस्वरूप ज्ञानमात्र मैं हूँ, इस प्रकार की अनुभूति प्रतीति हो उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं । सम्यग्दर्शन का भाव प्राप्त होने पर फिर उपयोग को उस ही स्वरूप के चिंतन में लगाने की कोशिश करना यह सम्यग्ज्ञान का उपयोग है । जों बात अनुभव कर ली गई है कि यही भाव, यही परिणमन, इस ही भाव का अनुभव मेरे लिए हितकारी है, आनन्द देने वाला है, तो अब कर्तव्य यह होना चाहिए कि हम अपना ज्ञान उस ही भाव के लिए लगाये, ऐसा मन में अवधारण बनायें कि सिवाय इसके और कोई काम ही मुझे नहीं वास्तविक, सो मैं अपने उस सहज ज्ञानस्वभाव को ज्ञान में लिए रहूं, जिसका ज्ञान करने से, जिसका अनुभव करने से परमात्मा की तरह आनन्द की झलक होती है।

**झूठे दुर्विपाक सुख में राग करने से विपन्नता**—जीव को आनन्द ही तो चाहिए । सत्य आनन्द ढूँढें । उस झूठे मोह के आनन्द में क्या रखा है? जो कर्म के आधीन है, अनेक साधन जुटने पर प्राप्त हों, जिसमें बीच में अनेक दुःख भरे हैं यह सुख है क्या? वह तो विष है, केवल एक मोह की नींद का स्वप्न है । दिख रहे हैं ये घर के स्त्री-पुत्रादिक कि ये सब मेरे कितने अनुरागी हैं । अरे अनुरागी कौन है? जगत में अनन्त जीव हैं, उन अनन्त जीवों में से ये एक दो जीव घर में आ गए । ये न आते और कोई आते । तो जीव का वास्तविक सम्बन्ध रहा क्या कि ये ही मेरे कहलाये? यहाँ तो मोह की बान पड़ी हुई है तो जो भी जीव आता उस ही के सम्बंध में मोह करने लगते । कोई जीव से नाता तो न रहा । यह तो अपनी आदत की बात हुई । मोही जीव हैं, मोह करने की आदत है । मोह दूसरे से नहीं आता, मोह खुद का विकार है । सो जो भी जीव मिला उसमें मोह बना लेते हैं । यों कुछ-कुछ राग मोह तो अन्यत्र भी बहुत सी जगह कर ही रहे हैं । गधी, कुतिया, बिल्ली, खरगोश आदिक के छोटे-छोटे बच्चे भी कितने प्यारे लगते हैं, उनके प्रति भी लोगों का, कुछ न कुछ आकर्षण हो ही जाता है । तो इन सब जीवों से मेरा कोई नाता है क्या? किसी जीव से मेरे रिश्ते की बात लिखी है क्या? इस जीव को मोह करने की आदत है सो जो भी मिला उस ही से यह जीव मोह कर बैठते है । तो यह इसके मोह करने की बात है । सम्बन्ध कुछ नहीं है । तो ऐसे झूठे पराश्रित सुख में मग्न रहना यह तो मानव-जीवन को निष्फल खो देने की बात है ।

**विषयसुख की उपेक्षा में ही सत्य सहज आनन्द का लाभ**—भैया ! विषयसुख से मुख मोड़कर जो वास्तविक स्वाधीन आत्मा से उत्पन्न हुआ निरपेक्ष सुगम सहज आनन्द है उसकी धुन में लगे । इस सहज आनन्द की धुन में लगने पर वह आनन्द प्राप्त होता है । एक अपने आपके सहज आनन्द की बात पा ली जाती है तो समझो कि सब कुछ पा लिया । उसके प्रसंग में यदि देह भी छूटता है तो छूटे? अन्य धनवैभव आदिक भी छूटते हैं तो छूटें । बड़े-बड़े मुनीश्वरों ने जिनको स्यालिनी ने खाया, शेरनी ने चबाया, जो कोल्हू में पेले गए, कंडों में जलाये गए उन साधुवों में कौनसा साहस था कि इतनी बड़ी विपत्ति में भी धीर रहे, आनन्दमग्न रहे, अन्त: प्रसन्न रहे? वह साहस यही था कि आत्मा के सहज आनन्द के मुकाबले से सारी बातों को वे असार समझते थे । एक अपना सहज आनंद प्राप्त हो उस एवज में देह भी जलता है तो जले, प्राण जाते हैं तो जावे, लोग किनारा कसते हैं कसे, वैभव मिटता है मिटे, जो भी बात होती हो सब हो, पर मेरे इस सहज आनंद की धुन मत मिटे । तो ये साधु पुरुष ऐसे ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र के आश्रयरूप हैं ।

**उपासक की साधुगुणों में आस्था**—जब साधु गुणों पर दृष्टि देते हैं । कैसा अमूर्त आत्मा, कैसा स्वच्छ ज्ञान, कैसी निरपेक्ष वृत्ति की बाहर में कहीं जिनका आकर्षण नहीं, सर्व जीवों में समताभाव जग गया है, जगेगा ही, जगना ही पड़ेगा, और होगा क्या? जिनको अपने आपके सहज स्वभाव का अनुभव हुआ, आनन्द प्राप्त हुआ, उस ही धुन में जो रह रहे हैं वे बाहर में रागद्वेष कैसे कर सकेंगे? तो ऐसे समता के पुञ्ज साधु परमेष्ठी के अब अन्त: गुणों का विचार करते हैं तो इस भक्ति से उन गुणों में विशिष्ट अनुराग होता और अन्त: आवाज निकलती कि ये साधुगुण मेरी रक्षा करें । कैसे रक्षा करेंगे कि उन साधुगुणों का निरन्तर चिन्तन रहे ऐसा चिन्तन करने वाला उपयोग फिर वह मेरा रक्षक है । हमारा रक्षक हमारा उपयोग है, हमारा भक्षक भी हमारी उल्टी चाल है । तो यह भक्त पुरुष साधु गुणों का चिन्तन करता हुआ कहता है कि साधुगुण मेरी रक्षा करें ।

## श्लोक 6

**जिनसिद्धसूरिदेशकसाधुवरानमलगुणगणोपेतान ।**
**पंचनमस्कारपदैस्त्रिसन्ध्यमभिनौमि मोक्षलाभाय ।।६।।**

**मोक्षलाभ के लिये पञ्च परमगुरुओं का अभिवन्दन**—पंच परमेष्ठियों के वर्णन के बाद अब यहाँ उपासक ऐसी भावना कर रहा है कि जिनेन्द्रदेव सिद्ध परमेष्ठी आचार्य प्रभु उपाध्याय परमेष्ठी और साधुजन जो निर्मल गुण गणों से युक्त हैं उनको मैं पंच नमस्कार पदों के द्वारा तीनों संध्याओं में मोक्ष की प्राप्ति के लिए स्तवन करता हूँ । यहाँ तीनों संध्यावों का मतलब है प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और सायंकाल से अथवा जब चाहे, रात दिन प्रत्येक घड़ी। ऐसे तीनों समय पंच नमस्कार पद के द्वारा पंच गुरुवों का स्तवन करता हूँ यह उपलक्षणार्थ है । पंचनमस्कार मंत्र प्रसिद्ध ही है । जब बहुत भक्तिपूर्वक प्रभुवों के, परमेष्ठियों के गुणों का स्तवन करते हुए बहुत

धीरे-धीरे णमोकार मंत्र का स्मरण किया जाता है तो आत्मा में ज्ञान का प्रकाश होता, परमेष्ठियों में गुणों का अनुराग होता और उस काल ऐसा विशिष्ट पुण्यबन्ध होता है जिसके उदय में सर्व विपदायें दूर हो जाती हैं । प्रथम तो विपत्ति है कहां? अज्ञानरूप उपयोग बनाने को विपत्ति बताया जाता है । जहाँ सही ज्ञान बना कि समस्त विपदायें टल जाती हैं । इस कारण अपने ज्ञान को सही रखना एक यही सही काम जीवन में पड़ा हुआ है । ज्ञान सही रखने का सुगम उपाय शुद्ध आत्माओं की भक्ति है । इससे और आगे का उपाय शुद्ध आत्मतत्त्व का ज्ञान ध्यान है ।

**आत्मोद्धार के सरल प्रथम उपायभूत शुद्धात्माओं के वंदन में निष्प्रमादता का अनुरोध**—हम आत्मोद्धार के इन सब उपायों को न छोड़ें । हम जिनेन्द्र, सिद्ध, सूरि, पाठक, साधु इन पंच परमेष्ठी के गुणों को स्मरण करें । णमोकार मन्त्र का शुद्ध भावपूर्वक उच्चारण करके अपने अन्त: आनन्द का विकास करें, यही मात्र हम आपका शरण हैं । और यहाँ यही भावना की जाती है कि तीनों समय अर्थात् जब चाहे रात-दिन प्रत्येक घड़ी इन पंचपरमेष्ठियों का वन्दन करें और स्तवन करके, उच्चारण करके बड़े शुद्ध भाव से उनके गुणों को भी विचारे । जैसे अरहंत कहा तो आकाश में समवशरण में विराजमान वीतराग सर्वज्ञ शुद्ध ज्ञानपुञ्ज दृष्टि में आये । सिद्ध कहा तो लोक के अग्रभाग पर विदेह ज्ञानपुञ्ज का स्मरण हो । आचार्य कहा तो सिद्ध समूह के बीच बड़े निर्मल विरक्त साधु का ध्यान करें । उपाध्याय कहा तो ज्ञान का जहाँ महान् प्रकाश है, और शिष्य वर्ग को बड़ी करुणा से तत्त्व का जो अध्ययन कराते हैं उस घटना का ध्यान करें । साधु नाम कहा तो गुफावों में, नदी के तीर पर किसी भी जगह तपश्चरण करते हुए साधु का ध्यान करें, । यों पंच परमेष्ठी के स्वरूप का पंच नमस्कार पदों के द्वारा मोक्षलाभ के लिए तीनों समय, सर्व समय स्तवन करता हूँ, और यह स्तवन केवल बहिरंग स्तवन नहीं, किन्तु जब उनके ज्ञानानन्द गुणों से अपने उपयोग में मिलकर एक रूप से ध्यान कर रहे है तो गुणों में उपयोग ऐसा अभेद बने कि उन पंचपरमेष्ठियों का अभेद वन्दन हो जाय । इस प्रकार उस चैतन्यज्योति में अपनी चैतन्यज्योति को मिलाकर एक अभेद चैतन्यरस का स्वाद लेना यही पंच परमेष्ठी के गुणवन्दन का और उनके, गुण स्तवन का वास्तविक फल है ।

## श्लोक 7

**एष पंचनमस्कार: सर्वपापप्रणाशन: ।**
**मंगलानां च सर्वेषां प्रथमं मंगलं मतं ।।७।।**

**णमोकार मंत्र की सकलपापर्ध्वसता एवं मंगलरूपता**—यह पंचनमस्कार मंत्र सर्व पापों का नाश करने वाला है और समस्त मंगलों में पहिला मंगल माना गया है । चूंकि पंचनमस्कार मन्त्र में निर्दोष आत्माओं का स्मरण किया जाता है, इस कारण इस मन्त्र में महत्त्व और प्रभाव बढ़ गया है । जो आत्मा पंचनमस्कार मंत्र का जपने वाला है वह स्वयं प्रभावित होकर ही अतिशय प्रकट करता है और यह बात शुद्ध आत्मा के आश्रय

करने से ही बनती है । इस मंत्र में स्मर्तव्य शुद्ध आत्मा हैं अरहंत और सिद्ध । आचार्य, उपाध्याय और साधु ये तीन शुद्ध होने के प्रयत्न में लगे हैं ये भी सन्मार्ग सम्बन्धित होने से शुद्ध हैं । तो पंच परमेष्ठियों के स्मरण के प्रसंग में शुद्ध तत्त्व का ही सम्बंध है, इस कारण पंचनमस्कार मंत्र का स्मरण समस्त पापों का नाश करने वाला है । जब तक हृदय में पापवासना रहती है तब तक वह जीव शुद्ध आत्मा की उपासना में नहीं लगता । जिसकी जैसी भावना होती है वह उसके अनुसार ही अपना संग बनाता है । जिसका पापभाव है वह पाप का ही संग बनायेगा । जिसका धर्मभाव है वह धर्मात्माओं का संग बनायेगा । तो धर्मात्माओं में ये पंच परमेष्ठी प्रधान हैं । तो अब धर्मभाव का, शुद्ध ज्ञानभाव का आलम्बन लिया है पंच पदों में निरखकर तो उस पुरुषार्थ के कारण आत्मा पवित्र बनता है और पाप भी दूर हो जाते हैं । लोक में जितने मंगल माने गए हैं उन सब मंगलों में प्रथम मंगल, प्रधान मंगल, एकमात्र मंगल यह पंचनमस्कार मंत्र है । लोग अब भी अनेक कार्यों की आदि में णमोकार मंत्र का स्मरण करते हैं और आचार्यों का भी यही संदेश है कि गृहस्थों के द्वारा गृहस्थधर्म की नीति के अनुकूल धर्म के कार्य किए जायें । गृहस्थधर्म के कार्य विवाह प्रीतिभोज आदिक अवसर पर भी उन प्रसंगो में एक-एक घटना के आरंभ में णमोकार मंत्र का स्मरण करना चाहिए । अलौकिक उद्देश्य से णमोकार मंत्र का स्मरण धर्मभाव को उत्पन्न करता हे और लौकिक कार्यों के अवसर पर णमोकार मंत्र का स्मरण विघ्नों का नाश करता है । तो यह पंचनमस्कार मंत्र सर्व मंगलों में प्रथम मंगल है ।

**पञ्च परमगुरु के प्रति दृढ़तम श्रद्धान रखने का कर्तव्य**—भैया ! श्रद्धा इतनी दृढ़ होनी चाहिए कि पंच परम गुरुवों के सिवाय अन्य किसी रागी द्वेषी, देवी देवता या पुरुषों में हमारा आदर न पहुंचना चाहिए धर्म के नाते से । प्राय: लोग कुबुद्धिवश जैसा कि लोगों ने बहका दिया उस प्रकार पर की सुविधा के लिए पुत्र निरोग रहे, धन वैभव बढ़े आदिक अनेकानेक भाव करके जिस चाहे पत्थर को देवी देवता मानकर उनकी भक्ति में पहुंचते हैं और प्रार्थना करते हैं । यह श्रद्धा आत्मस्वभाव के सम्बन्ध से डिगाने वाली है । वहाँ सम्यक्त्व का उदय नहीं है और मिथ्यात्व से ही यह संसार बढ़ा हुआ है । तो कुदेवों की उपासना अथवा कुगुरुवों की उपासना ये सब मिथ्यात्व को बढ़ाने वाले हैं जिनको अपने आत्मा का श्रद्धान हैं वे इतने दृढ़ संकल्पी हैं कि जो कुछ जिसका होता है उसके परिणमन से होता है, उसके भाग्य के अनुसार होता है । मैं केवल अपना ही स्वामी हूं । कुटुम्ब के लोग, मित्रजन अथवा जिन जिनसे सम्बन्ध है वे सब अपने-अपने स्वामी हैं । सबका अपना-अपना भाग्य है । उनके भाग्य के अनुसार उनकी बात चला करती है । मैं किसी का अधिकारी नहीं । यों जानकर अपनी रक्षा इस ही बात में समझना है कि मैं पंच परम गुरुवों की उपासना में रहूं । जो निर्मोह हैं, नि:संग हैं, साधु हैं, शुद्ध होने के प्रयत्न में सफल होते जा रहे हैं ऐसे आत्माओं में ही आदर रहे इस प्रयत्न में रहना है । लोक में जितने मंगल हैं, मंगलाचरण हैं, शकुन की बातें हैं उन सबमें प्रधान एक यही पंचनमस्कार मंत्र है ।

## श्लोक 8

**अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्याया: सर्वसाधव: ।**
**कुर्वन्तु मङ्गला: सर्वे निर्वाणपरमश्रियम् ।।८।।**

**मङ्गलमय प्रभु से मङ्गलरूप निर्वाण परमश्री के लाभ की कामना**—अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु ये सब मेरे मंगलरूप हो और निर्वाणरूप परम लक्ष्मी को देवें । अरहंत—जिनके चार घातियाकर्म दूर हो गए हैं, जिनके रागद्वेष मोह का समूल नाश हो गया है, केवलज्ञान के द्वारा जिनके ज्ञान में सारा लोकालोक प्रतिभासित होता है, जिनके अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और, अनन्तवीर्य प्रकट हुआ है ऐसे अरहंत देव हम आप सबको मंगल प्रदान करें । सिद्धभगवान—जिन्होंने ध्यानरूपी अग्नि के द्वारा अष्ट कर्मों को दग्ध कर दिया है, और जो जन्म जरा मरण से परे हो गए हैं, जिन्होंने शाश्वत आत्मपद प्राप्त कर लिया है, जो लोक के अग्र भाग में निवास करते हैं, शरीररहित केवल ज्ञानमात्र ज्ञान-ज्ञान ही जिनका स्वरूप है, ऐसे देहरहित निकल परमात्मा हम आप सबको परमपद प्रदान करें । यद्यपि भगवान अपने अनन्तज्ञान और अनन्त आनन्द का अनुभव छोड़कर भक्तों की पुकार में, भक्तों के अतिशय में नहीं लगा करते हैं । वे तो अपने ज्ञानानंद में मग्न रहा करते हैं, किन्तु भक्तजन, उनके इस विशुद्धस्वरूप को निहारकर स्वयं ही उस मार्ग में लगते हैं और परमपद को प्राप्त करते हैं । तो जिनका आलम्बन लिया था कल्याण प्राप्ति करने वाले जीवों ने निमित्तदृष्टि से यह कहा जाता हैं कि प्रभु ने उनका कल्याण किया और यह बात आलम्बन प्रसंग में युक्तिसंगत है ।

**प्रभु की प्रभुता के दर्शन का उद्यम**—प्रभु की प्रभुता क्या है ? उस प्रभुता के हमें दर्शन किस प्रकार हो सकते हैं? जब हम अपने भाव प्रभु की वीतरागता के ढंग से अपनी योग्यतानुसार वीतरागता में अपने को ढालकर निरखेंगे तो प्रभुता के दर्शन होंगे । हम रहें तो सविकल्प, चिन्तावान, मोही और चाहें कि निर्मोह शुद्ध ज्ञानस्वरूप के दर्शन पा ले तो यह बात तो अशक्य है । हमें खुद को स्वयं को उस वीतरागतारूप प्रवर्ताना होगा अपनी योग्यतानुसार और बाह्य विकल्पों को तोड़ना होगा । जब हम अपने आपमें सत्य विश्राम पायेंगे तो हम प्रभुता के दर्शन कर सकते हैं । लोक में रहकर रागद्वेष मोह बढ़ाकर अपने आपके उपयोग को कितना ही कलुषित कर लें, भ्रमा लें, किन्तु, इन व्यवहारों में आत्मा का लाभ कुछ नहीं मिलता । भावना यह होनी चाहिए कि हे प्रभो ! इस जगत में सब चीजें असार हैं । जो देह मिला यह भी साथ न देगा, धन वैभव तो प्रकट पर हैं । चेतन अन्य लोग ये भी मेरे कुछ नहीं हैं । मेरे लिए तो मेरे आत्मा में से मेरा ज्ञान रमण करे बस यह स्थिति चाहिए । इसके सिवाय और कुछ मेरी कामना नहीं है, भाव यह होना चाहिए । यहाँ हम किसी दूसरे की अपेक्षा, सहारा लेकर चाहे कि हम सुखी हो जायें तो यह बात नहीं बन सकती है । कारण यह है कि हमें सुख दुःख हमारे ही सुख दुःख के परिणमन से प्राप्त होते रहते हैं ।

**प्रभुशासन में वस्तुस्वरूप का दर्शन और कल्याण का स्पष्ट मार्ग**—सभी पदार्थ, अपने-अपने स्वरूप से नई-नई वृत्ति पैदा करते हैं, पुरानी परिणतियां विलीन करते हैं और शाश्वत रहा करते हैं । यहाँ कौन मेरा साथी होगा? मैं द्रव्य हूँ अतएव अपनी ही परिणति से मैं परिणमता रहता हूँ, अपने में ही उन्मग्न निमग्न होता रहता हूँ । जैसे कि समुद्र अपने आप में ही तरङ्ग वाला बनता है, अपने आपमें ही तरंगरहित होकर शान्त बनता है । जब लहर उठ रही है तो वह कोई दूसरी चीज तो नहीं बन गयी । वह समुद्र ही है । अब लहर वाला हो गया है । जब लहर मिट गयी तो वह समुद्र ही है, कुछ दूसरी चीज नहीं हो गयी । तो जैसे समुद्र हवा का निमित्त पाकर लहर वाला बनता है और हवा का निमित्त हटते ही लहररहित होकर शान्त हो जाता है तो जब लहर वाला बना समुद्र, तब भी वह दूसरा कुछ नहीं था, स्वयं का ही स्वरूप इस तरह से बन रहा था । जब लहररहित हो गया तब भी कुछ और नहीं बन गया । स्वयं ही वह समुद्र मानो अपने आप सहज शिक्षा दे रहा है । इसी प्रकार जब हम विकारपरिणत कहलाते हैं उस समय भी यह मैं कुछ और द्रव्य नहीं बन गया । मैं ही कर्मोदय का निमित्त पाकर स्वयं अपने आपमें विकृत बन जाता हूँ, और जब विकाररहित होऊँगा तब भी मैं कहीं दूसरा कुछ नहीं हो जाऊंगा । जो मैं था, जो मेरे स्वभाव में है बस वही प्रकट हो जाता है । कितना शुद्ध और स्पष्ट मार्ग है प्रभु शासन का । अपने आपको एक शान्तस्वभाव में प्रवर्ताना है तो अपने आपके निजस्वरूप को देख ले। पर से दृष्टि हटा लें, पर का मोह छोड़ दे, अपने आपके सही स्वरूप का बोध कर लें, सब कुछ मंगल हो जायगा । मेरा कल्याण करने कोई दूसरा न आयगा । प्रभु तो एक आश्रयमात्र है । अर्थात् हम ध्यान करते हैं प्रभु का तो उस समय प्रभु का शुद्ध स्वरूप मेरे उपयोग में रहता है तो उपयोग भी स्वच्छ रहता है, उसका प्रताप है कि हम कल्याण पा लेते हैं । करना अपने को ही होगा । प्रमाद न करना चाहिए । यथाशक्ति उस ज्ञानविधि में लगे रहना चाहिए । सिद्धप्रभु इस ही उपाय से सिद्ध हुए हैं ।

**आचार्य व उपाध्याय परमेष्ठी से मङ्गलप्रार्थना**—साधुवों के रक्षक प्रवर्तक आचार्यदेव विशिष्ट विरक्त रहते हैं । करुणावश साधुवों को शिक्षा-दीक्षा, प्रायश्चित आदिक प्रयत्न करते हुए अपने स्वरूप से नहीं डिगते, अहंकार में नहीं आते, परदृष्टि में नहीं उलझते । इतना उत्कृष्ट उनका सहज वैराग्य रहता है, जिसमें वे सर्व गुण प्राप्त हो जाते हैं कि जिनके कारण साधुजन बड़ी सुख सुविधा से रत्नत्रयमार्ग में चलते हैं । वे आचार्य परमेष्ठी हैं जिन्होंने ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार, वीर्याचार इनको साध लिया है, इन पर जिनका अधिकार है । जो द्वादशाङ्ग के अथवा कुछ अंग पूर्वी के ज्ञाता हैं ऐसे आचार्यदेव हमको भी मोक्षपथ प्रदान करें । उपाध्याय परमेष्ठी ज्ञानपुञ्ज, जिनके प्रतिक्षण ज्ञान बर्तता है, अन्य साधु शिष्यजन जिनसे विद्याभ्यास करते हैं जिनके आगे मिथ्यावादियों का पद नहीं टिक सकता है इतने विशिष्ट ज्ञानी उपाध्याय परमेष्ठी जो घोर संसाररूपी भयानक अटवी में, जहां पर कि विकराल विकाररूपी सिंह गरजते रहते हैं, जहाँ पर जीव अपने कर्म को भूले हुए विपरीत पथ में गमन करते हैं, उनको जो प्रतिबोध कराते हैं, उपदेश देते हैं वे उपाध्याय

परमेष्ठी सदा वन्दनीय हैं ।

**साधु परमेष्ठी से मंगल प्रार्थना**—साधु कितना हितकारी शब्द है, हितकारी अर्थ है । जो आत्मा के स्वभाव की साधना करे उसे साधु कहते हैं । साधु को सिवाय शुद्ध ज्ञानोपयोग रखने के प्रयत्न के अन्य कोई बात चित्त में ही नहीं है, और यही कारण है कि वे सर्व परिग्रह से रहित निर्ग्रन्थ रहते हैं, उनके केवल शरीरमात्र परिग्रह रहता है और वे अपने आत्मा की साधना में निरन्तर जुटे रहा करते हैं, एकान्त स्थान, देखते हैं जहाँ आत्मध्यान के विचलित होने का बाहरी निमित्त न हो । जो तपश्चरण में बड़े कुशल है, अनेक उपवास, शीत गर्मी आदिक की अनेक बाधायें, अनेक प्रकार के कष्टों को सहन करने की जिनके क्षमता है, कोई दुष्ट लोग उन्हें प्रतिकूल वचन भी कहे, गाली भी दें तो भी वे साधु जानते हैं कि ये सब भाषावर्गणा के परिणमन हैं । जीवों की कषायों के ये सब परिणाम हैं । जो ज्ञाता दृष्टा रहते हैं, समतापरिणाम में रहते हैं, ऐसे साधु परमेष्ठी मेरे द्वारा सदा वंदनीय हैं । इन साधु जनों ने बड़े-बड़े उग्र तपश्चरण करके अपने शरीर को क्षीण कर लिया है, जो धर्मध्यान शुक्लध्यान के अधिकारी हैं, जो तपश्री से सदा सम्पर्क रखते हैं ऐसे साधु मेरे को भी मोक्ष पथ की बुद्धि दिलाने वाले रहें । साधु की मुद्रा ही ऐसी शान्त है कि जिससे भक्त को भी यथार्थ ज्ञान झलक रहा है उस मुद्रा के दर्शन करने मात्र से लोग सम्यक्त्व उत्पन्न कर लेते हैं, सम्यक्त्व उत्पन्न करने का निमित्त साधुदर्शन है, जिनबिम्ब दर्शन हैं । तो अब समझिये कि साधु का कितना उच्च पद है आत्मसाधना का । ऐसे साधु पुरुष हम सबके मंगलरूप हों और ये सब निर्वाण परमश्री को प्रदान करें ।

## श्लोक 9

**सर्वान् जिनेन्द्रचन्द्रान् सिद्धानाचार्यपाठकान् साधून् ।**
**रत्नत्रयं च बन्दे रत्नत्रयसिद्धये भक्त्या।।९।।**

**रत्नत्रय की सिद्धि के अर्थ पंच परमगुरुवों का अभिवंदन**—समस्त जिनेन्द्रचन्द्र चंद्रमा की तरह अमृत प्रदान करने वाले हैं । चन्द्र यदि लोकरूढ़ शांति शीतलता अथवा रोगहरक अमृत प्रदान करते है तो ये जिनेन्द्रदेव, ये वीतराग सर्वज्ञ प्रभु जीवों को ऐसा ज्ञानामृत प्रदान करते हैं कि सदाकाल के लिए जन्ममरण के संकटों से छूट जायें ऐसे समस्त जिनेन्द्रचन्द्रों को मैं रत्नत्रय की सिद्धि के लिए भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ । आचार्य, उपाध्याय और साधु ये रत्नत्रय की साधना में लगे ही हुए हैं। इनके संग से, इनकी उपासना से, इनकी भक्ति से मेरे भी रत्नत्रय की साधना का बल प्रकट हो । इन सब परमेष्ठियों को रत्नत्रय की सिद्धि के लिए भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ ।

## श्लोक 10

**पान्तु श्रीपादपद्मानि पंचानां परमेष्ठिनाम् ।**
**लालितानि सुराधीशचूडामणिमरीचिभिः ।।१०।।**

**सुराधीशचूड़ामणिमरीचिलालित परमेष्ठीपादपद्म का अवशरण**—पंच परमेष्ठियों के चरणकमल सदा मेरी रक्षा करो । लोग सन्तोष करते हैं तब, जब यह समझ लेते हैं कि मेरे पर इनकी छत्रछाया है । माता-पिता, चाचा, दादा ये सब मेरी रक्षा करने के लिए दृढ़ संकल्प किए हैं, मुझ पर इनकी छत्रछाया है ऐसा जब जानते हैं तो बड़े सन्तोष से रहते हैं वे बालक । यहाँ सम्यग्ज्ञानी भव्य जीव जानता है कि मेरे पर पंचपरमेष्ठी की पादपद्मोपासनमयी छत्रछाया रहेगी तो मुझे कोई विघ्न नहीं आ सकता? । विघ्न है दिल की कल्पना । धनी होने पर भी कोई कल्पना करे कि यह तो कुछ भी धन नहीं है, इतने में तो मेरा गुजारा नहीं, मैं करोड़पति हो जाऊँ, बस एक ऐसी इच्छा भर हुई, कल्पना हुई कि सारी जिंदगी खराब हो गयी । तो धन वैभव की छाया, यह जीवों को सुख प्रदान नहीं कर सकती, किन्तु पंच परमेष्ठियों के चरणकमल की छाया, उनके गुणस्मरण की छाया मेरे पर रहेगी तो यह मैं आत्मा सर्व विघ्नों से दूर हूँ । विघ्न है परवस्तु को अपना मानने के कारण । जो यह निर्णय कर चुके हैं कि कुछ भी परवस्तु मेरी नहीं है उसको अब संकट क्या रहा? प्रभुचरणों के स्मरण के प्रसाद से यही सुबुद्धि तो जगती है जिससे कि सर्वसंकट नष्ट हो जाते हैं । ये पंच परमेष्ठी के चरणकमल बड़े-बड़े सुखाधीश देवेन्द्रों के मुकुट में लगे हुए मणि की किरणों के द्वारा लालित हैं । भला बतलावो सौधर्म आदिक स्वर्गों के बड़े इन्द्र, और यहाँ अरहंत प्रभु के, पंच परमेष्ठियों के, साधुजनों के चरणकमलों की सेवा करने के लिए आये और जिनके मुकुटों में लगी हुई मणियों की किरणें उनके व उनकी स्थापित मूर्तियों के चरणकमलों पर पड़ती हैं तो मानो उन बड़े-बड़े देवेन्द्रों के मुकुट मणियों से ये चरणकमल लालित हैं । वे चरणकमल सदा मेरी रक्षा करें ।

## श्लोक 11

**प्रातिहार्यैर्जिनान् सिद्धान् गुणैः सूरीन् स्वमातृभिः ।**
**पाठकान् विनयैः साधून् योगांगैरष्टभिः स्तुवे ।।११।।**

**प्रातिहार्यों द्वारा, सिद्धगुणों द्वारा व स्वमातृकाओं द्वारा अरहंत सिद्ध आचार्य परमेष्ठी का स्तवन**—यह पञ्च महागुरुभक्ति का अन्तिम छन्द है । इस भक्ति में पंच परमगुरु की वन्दना की गई है । तो किसी परमेष्ठी की वन्दना करते समय मुख्यतया हमारी दृष्टि में गुण होने चाहियें, उसका संकेत इस छन्द में दिया गया है । मैं जिनेन्द्र देव का प्रातिहार्यों के द्वारा स्तवन करता हूँ, । जिनेन्द्रप्रभु में अन्तरङ्ग गुण तो अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति और अनंत आनन्द है । और बाह्य पारमार्थिक अतिशय भगवान के अष्ट प्रातिहार्य है कि जिन शोभाओं को, जिन प्रातिहार्यों को करने वाला इन्द्र है, जो कि प्रभु के चरण सेवा के लिए प्रतिहार, पहरेदार, द्वारपाल की तरह अपने आपको सेवक मानकर धन्य समझते हैं । जो प्रतिहार के द्वारा किया जाय उसे प्रातिहार्य कहते हैं । तो भगवान की सभा में इन्द्र अपने को प्रतिहार मानकर धन्य समझते हैं और उस प्रतिहार के द्वारा, उन इन्द्र देवेन्द्रों के द्वारा जो प्रातिहार्य रचा जाता है वह क्या है? जैसे कि अशोक वृक्ष का

होना, सिंहासन कांतिमान होना, भगवान के सिर पर तीन छत्र होना, भामण्डल होना, दिव्यध्वनि खिरना, पुष्पवृष्टि होना और ६४ यक्षों के द्वारा चमर ढोरे जाना, दुंदुभि बाजा बजना । ऐसे ८ प्रातिहार्यों के परिकल्पन के द्वारा मैं जिनेन्द्रदेव का स्तवन करता हूँ । सिद्ध भगवन्तों को सम्यक्त्व, दर्शन, आनन्दज्ञान, अगुरुलघु, अवगाहन, सूक्ष्मत्व, वीर्यवत्त्व आदि अष्ट गुणों के द्वारा स्तवन करता हूँ । आचार्यदेव को जिनके कि मुख्यतया आचारवत्त्व, व्यवहारवत्त्व आदि ८ गुण हैं और जिनका माता की तरह रक्षा करने वाली पंच समिति, तीन गुप्ति—इन अष्ट प्रवचनमातृकाओं पर पूर्ण अधिकार प्राप्त है उन आचार्यों को उनके गुणों के अभिवंदन द्वारा मैं स्तवन करता हूं।

**विनय और योगाङ्गों से उपाध्याय व साधुपरमेष्ठी का स्तवन तथा पञ्चमहागुरुस्तवनफलभावना**—उपाध्यायों को मैं बड़े विनय से स्तवन करता हूँ । जो ज्ञानदाता हैं उनका उपकार कितना माना जाय? ज्ञानदाता का उपकार किसी भी उपाय से नहीं चुकाया जा सकता है । केवल एक विनय ही उपाय रह गया है जिसका प्रयोग किया जाता है । मैं उपाध्यायों का विनयों से स्तवन करता हूँ । साधु जन योग के धनी होते हैं । जो अपने आपके आत्मा में अपने को जुड़ाये उसे योग कहते हैं । उस योग के जो-जो अङ्ग हैं, वे आत्मा में समा जाने के उपायभूत हैं—प्राणायाम, निश्चितता, धारणा, एक लक्ष्य बनाना, प्रत्याख्यान करना आदिक, उन सब योग के अङ्गों द्वारा मैं स्तवन करता हूँ । ऐसे ये योग में अंग ८ बताये गए है । साधुजनो में साधना की मुख्यता है, इस योग की मुख्यता है सो मैं उन साधु पुरुषों के इन योग उपायों का स्मरण कर-करके और उस योग के कारण साधुवों की साधुता को, महता को जानकर मैं भक्तिपूर्वक उन साधुजनों का स्तवन करता हूँ । इस प्रकार ऐसे स्तवन के द्वारा जो पंच गुरुवों की वंदना करते हैं वे संसार के बड़े बन्धनों का छेदन कर देते हैं और शीघ्र ही उत्तम ज्ञान को प्राप्त करते हैं, कर्म ईंधन को जला देते हैं । इन पंच परम गुरुवों का नमस्कार मुझे भव-भव में सुख प्रदान करे अर्थात् जितने भी भव शेष रह गए उन भवों में इन पंच परमेष्ठियों का स्मरण बना रहे।

**।। पंचगुरुभक्ति प्रवचन समाप्त ।।**